પરમોપકારી પૂજ્ય ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

અહો! ઉપકાર જિનવરનો, કુંદનો, ધ્વનિ દિવ્યનો;
જિન-કુંદ-ધ્વનિ આપ્યા, અહો! તે ગુરુ કહાનનો.

प्रकाशकीय

शुद्धोपयोग सम्पन्न ज्ञानी धर्मात्मा ही "समस्त जिन-शासन" हैं, ऐसा निर्देश 'श्री समयसार' गाथा-१५ में मिलता है। इस विषयकी कुछ स्पष्टता ग्रन्थकी 'प्रस्तावना' में निर्दिष्ट है।

साथ ही उक्त प्रस्तावनामें श्री वीर शासनके विगत २५१६ वर्षोंके इतिहासको भी समावेश किया गया है। उसमें सद्धर्म-तीर्थविरुद्ध जो जो प्रमुख कालिमामयी घटनाएँ घटित हुई हैं उनका भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है व उनके कारणोंकी यथोचित मीमांसा भी की गई है। जिसका उद्देश्य इतना ही है कि उन घटनाओंसे अपनेको यही बोध अवधारणीय है कि किसी भी मूल्य पर वैसी घटनाओं व प्रवृत्तियोंका पुनरावर्तन न हो, तद्रूप जागृति निरन्तर कर्तव्य है। वस्तुतः जितनी भी अनुचित घटनाएँ घटती हैं उनके मूलमें विद्यमान ज्ञानी धर्मात्माके प्रति उपेक्षितवृत्ति ही मुख्य रहती है; और ऐसी स्वच्छन्द वृत्तिमें अनन्त दूषणोंकी सर्जन-क्षमता गर्भित होती है। यह एक महत्त्वका तथ्य है जो अन्तर गवेषणीय है।

अतएव इस संदर्भमें ज्ञानी धर्मात्माकी बाह्याभ्यन्तर दशाका स्वरूप सर्वांगीणरूपसे समझना भी अति आवश्यक है। नहीं तो, जिनमें भाव जिनशासन विद्यमान नहीं हो उन्हें ज्ञानी मान लेनेसे अथवा जिनमें वह प्रगट हो उन्हें ज्ञानी न माननेसे या फिर उनकी उपेक्षा हो जानेपर अनन्त ज्ञानियोंकी कृत-कारित या अनुमोदनाजन्य विराधनारूप महा दोष हो जाना सम्भवित है। इसीलिए उसके निवारणार्थ प्रस्तुत ग्रन्थमें मोक्षमार्गमें विचरते धर्मात्मा—सम्यग्दृष्टियों व मुनिराजोंकी पवित्र बाह्याभ्यन्तरदशाके विभिन्न पहलुओंको दर्शानेका प्रयास किया गया है। और तदनुकूल ही इस ग्रन्थका शीर्षक "जिणसासणं सव्वं" रखा गया है।

तदर्थ, स्वानुभव विभूषित परम श्रद्धेय अध्यात्ममूर्ति पूज्य

गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी; एवम् वर्तमानमें मुमुक्षुओंके लिए कल्प-वृक्षतुल्य प्रत्यक्ष उपकारी प्रसिद्ध धर्मात्मा प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन; आत्मार्थ सद्बोधदाता सत्पुरुष पूज्य श्रीमद् राज-चन्द्रजी; तथा समीप मुक्तिगामी दृष्टिके धनी पूज्य श्री निहाल-चन्द्रजी सोगानीके तद्विषयक उपकारभूत वचनोंको प्रस्तुत संकलनमें प्रकाशित किया गया है।

आशा है, प्रस्तुत संकलन जिज्ञासुओंको भाव-द्रव्य जिन-शासनस्वरूप मोक्षमार्गमें विचरते ज्ञानी धर्मात्माओंकी समीचीन व निर्दोष बाह्याभ्यन्तरदशाके सम्बन्धमें एवं मोक्षमार्गमें प्रकट-जीवंत अध्यात्मतत्त्वकी सम्यक् जानकारी व पहचान करानेमें सहायक सिद्ध होगा; जिससे वैसी पवित्र दशामें वर्तते धर्मात्माओंके प्रति उनके हृदयमें सहज परम विनय-भक्तिके भाव उल्लसित होंगे; और साथ ही उनमें तद्रूप पवित्रदशा प्राप्तिकी तीव्र भावना स्फुरित होगी।

ट्रस्टकी नीति अनुसार इस ग्रन्थका मूल्य लागतसे लगभग २५% कम रखा गया है। और उस हेतु प्राप्त दानराशिका साभार विवरण अन्यत्र प्रकाशित है।

इस ग्रन्थके सुन्दर मुद्रण कार्यमें श्री ज्ञानचन्दजी जैन (कहान मुद्रणालय, सोनगढ)का सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनका आभार स्वीकार करते हैं।

* सद्धर्मतीर्थ जयवन्त वर्तो...

* समस्त जिनशासन जयवन्त वर्तो...जयवन्त वर्तो.

भावनगर,
दिनांक : २२-३-९०
(पू. बहिनश्री चम्पाबहिनकी
५८ वीं सम्यक् जयन्ती)

ट्रस्टीगण,
श्री वीतराग सत् साहित्य-
प्रसारक ट्रस्ट.

प्रस्तावना

देवाधिदेव वीतराग सर्वज्ञ चरम तीर्थंकर भगवान वर्द्धमानस्वामीको निर्वाण पधारे लगभग २५१६ वर्ष हो गये। इनका धर्मतीर्थ प्रवर्तमान है। वर्तमान कलिकाल सद्धर्मतीर्थके लिए उतरता हुआ काल है।

श्री वीरप्रभुके निर्वाणोपरांत ६२ वें वर्षमें अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामीके निर्वाण बाद केवलज्ञान परम्पराका व्यवच्छेद हो गया। तदुपरांत १०० वर्षोंमें श्री विष्णुनन्दि–श्री भद्रबाहुस्वामी आदि पाँच श्रुतकेवली भगवन्तोंकी विद्यमानतासे श्री वीरशासन अक्षुण्ण बना रहा।

तत्पश्चात् ४०३ वर्षोंमें श्री विशाखाचार्य–श्री नक्षत्र–श्री विनयदत्त–श्री अर्हद्दत्त आदि अंगधारी आचार्यभगवन्तोंकी, एवम् तदुपरांत ११८ वर्षोंमें श्री अर्हद्बली–श्री भूतबलि आदि अंशधारी आचार्यदेवोंकी विद्यमानता रही; जिससे श्री वीरशासन परम्परागतरूपमें जीवंत रहा।

तथापि उक्त ५२१ वर्षोंकी अवधिमें हुण्डावसर्पिणी काल भी अपना करालरूप यत्र–तत्र दिखलाता रहा; जिससे श्री वीरशासनको अनेक विकट स्थितियोंसे निबटना पड़ा। फिर भी, धन्य हैं! वे महान धर्म-स्तम्भवत् तत्कालीन आचार्य भगवन्त! कि जिन्होंने अनेक विषमताओंके बीच अविकल–अचल–अजेय रहकर, अपनी बाह्याभ्यन्तर पवित्र साधना-बलसे सद्धर्मतीर्थको यथावत् जीवन्त रखा।

यहाँ तत्कालीन वृत्त आजके परिप्रेक्ष्यमें भी शिक्षाप्रद लगनेसे उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा:—

● जब उत्तर भारतमें १२ वर्षीय दुर्भिक्षकी सम्भावना देख, △अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामीके नेतृत्वमें सभी आचार्यगण

△ इस विषयमें इतिहासविदोंमें मतैक्यता नहीं है।

अपने संघोंके साथ दक्षिण भारतकी ओर विहार कर गये। फिर भी श्री रामल्य, श्री स्थूलभद्र व श्री स्थूलाचार्य नामक आचार्योंने श्रीगुरुके निर्देशकी अवज्ञा की, और विहार नहीं किया। दुर्भिक्ष पड़ा; इन लोगोंने सिंहवृत्ति त्याग कर, परिस्थितियोंके आगे घुटने टेक दिए और शिथिलाचारी हो गये। दीनवृत्तिवश वे लोग पात्र लेकर भोजन माँगनेके लिए वसतिकामें फिरने लगे। और अपनी नग्नताको उतने समय छिपाने हेतु अपने साथ वल्कल-वस्त्रका टुकड़ा भी रखने लगे, जिसे वे नगर-वसतिकामें जाते समय अपने आगे ढँक लेते और लौटने पर पृथक् करके फिरसे नग्न हो जाते थे। अपनेमें पल्लवित दर्शनभ्रष्टताजन्य शिथिलाचारिता, अनुशासनहीनता व सुविधाभोगी-वृत्तिके कारण वे लोग दुर्भिक्ष समाप्तिके बाद भी मूल संघके अनुशासनमें नहीं लौटे। इस तरह सनातन मूलमार्गसे भ्रष्ट होकर इन लोगोंने श्री वीर निर्वाण वर्ष १६२ △ के लगभग अपना अलग संघ गठित कर लिया। जिसकी पहचान 'अर्धफालक' या 'निर्ग्रंथ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ' के नामसे होने लगी। वह संघ अपनी यथास्थितिमें लगभग ४४४ वर्षों तक बना रहा। बादमें वह संघ श्री वीर निर्वाण वर्ष ६०६में 'श्वेताम्बर संघ' के नाममें परिवर्तित होकर आज विशाल फलक पर सक्रिय है।

☐ उक्त वृत्तांतमें गवेषणीय तथ्य यह है कि : सनातन वीतरागमार्गमें देश-काल आदि किसी भी नाम पर अपनाया जानेवाला विक्रियारूप तनिक-सा भी हेरफेर या शिथिलाचारादि आगे चलकर कितना विकृत स्वरूप धारण कर लेते हैं ?!

तत्त्वतः प्रारंभिक छोटी-सी विक्रियारूप एक नन्हे-से बीजमें विकृतियोंकी अनन्त वट वृक्ष-शृंखला गर्भित रहती है; परन्तु वह बाह्य या क्षणिक अथवा उपलक दृष्टि गम्य नहीं होती।

आज प्रत्यक्ष देखिए! एक वल्कल-वस्त्रके मामूली-से टुकड़ेमेंसे उपजा परिग्रहका विस्तृत वटवृक्ष!! निर्ग्रंथताके नामपर विकृतियोंका

△ इस विषयमें इतिहासविद्रोंमें मतैक्यता नहीं है।

अम्बार !! वीतरागताके नाम पर देव–शास्त्र–गुरुके स्वरूपका विकृत प्रदर्शन !!....जो हम सभीको वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें भी अत्यन्त सचेत / सजग रहने हेतु निरन्तर चेतावनी देता है।

● तादृश एक अन्य दुर्निवार घटना श्री वीर निर्वाण वर्ष ५९३में घटित हुई। परिणामतः प्रवर्तित 'मूलसंघ' (—निर्ग्रंथ श्रमण-संघ / दिग्वास / दिगम्बर) पुनः हुण्डावसर्पिणी कालके कराल चक्र-वातमें जा फसा। जव तत्कालीन मूलसंघ-नायक आचार्यदेव श्री अर्ह-द्वलिस्वामीने पंच वर्षीय युग प्रतिक्रमणके प्रसंग पर महिमा नगरमें निर्ग्रन्थ श्रमणोंका एक ऐतिहासिक यति सम्मेलन आहूत किया। तव, यद्यपि प्रायोजित सम्मेलनमें प्रायः सभी दिगम्बराचार्यगण अपने-अपने संघ सहित पधारे, तथापि आचार्यदेवश्रीको उनमेंसे कुछ आचार्यों–साधुओंके वीच कुछ विशेष प्रकारका पक्षपात प्रतीत हुआ, जिसे देख, उन्हें एक दुरन्त निर्णय लेनेको वाध्य होना पड़ा। फल-स्वरूप उन्होंने परम्परागत 'मूल संघ'को नन्दिसंघ, वीर संघ, अपराजित संघ आदि कई संघोंमें विभाजित कर, उन सभीके स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने पड़े। इस प्रकार 'मूल संघ' कई संघोंमें विभाजित हो गया।

कालान्तरमें उक्त विभाजित संघोंके और भी विभाजन तथा नये–नये संघ वनते व विगड़ते रहे। जिनमेंसे अनेक संघोंमें शिथिलाचारादि कई विपर्यास उत्पन्न हो गये, अतः ऐसे संघोंको मूल संघ-संनिष्ठ आचार्यदेवोंने 'जैनाभासी' भी घोषित किया है।

☐ —यह कैसा विकट दुर्भाग्य है कि परम पवित्र/सर्वांग निर्दोप 'मूल संघ'को अन्तर-विग्रहजन्य स्वच्छंदताका सामना अनेक वार करते रहना पड़ा है। घरके चिरागोंसे ही घर जलता रहा है। और लगभग वही दुःस्थिति आज भी मौजूद है।

☐ यद्यपि 'अर्धफालक'से लेकर मूल संघके जितने भी विभाजन हुए हैं, उनके मूलमें मुख्यतः शिथिलाचारिता/अहता/महत्त्वाकांक्षिता/स्वेच्छाचारिता—सदृश दूषित मनोवृत्ति ही भासमान

होती है। तथापि, सर्व प्रकारके दूषणोंके तात्त्विक अन्वेषणसे यह निष्कर्ष निकलता है कि: सर्व प्रकारके दोषोंका एकच्छत्री सरदार तो दर्शन-मोहनीय ही है अर्थात् सर्व दूषणोंका मूल दर्शनमोहनीयकी ही प्रगाढता है; इसीलिए शिथिलाचारितादि समस्त दोषितवृत्तिके मूलमें दर्शनभ्रष्टता ही प्रमुख होती है। और इसीकी प्रबलतासे ही 'जिनशासन' खण्डित हुआ है व होता है। क्योंकि दर्शनभ्रष्टता अर्थात् भावदर्शनमोहनीयके प्राबल्यसे स्वयमेव ही अनेक तरहके विपर्यास उद्भव हो जाते हैं; और उनके अनुमोदनारूप दोषित परिणाम भी सहज ही समुत्पन्न होते हैं। इस तथ्यके विशेष अवगाहन हेतु "दंसणभट्ठा ण सिज्झंति" सूत्रका पारमार्थिक रहस्य अन्तर गवेषणीय है।

● कालचक्रमें, सद्धर्मतीर्थको इतर धर्मान्धजनोंसे भी जूझना पड़ा व अनेक प्रकारके भीषण उपसर्ग सहने पड़े हैं। आततायी विधर्मियोंने साम्प्रदायिक विद्वेषवश अनेक जैनधर्मावलम्बी साधु-श्रावकोंको कत्लेआम किया। हजारों जैनियोंको धर्मपरिवर्तन हेतु विवश होना पड़ा। अनेक जिनमन्दिर अन्य देव-देवियोंके आयतनोंमें परिवर्तित कर दिये गए। अनेकानेक जिनायतन खण्डहरोंमें बदल दिये गए। लाखों जिनेन्द्रप्रतिमाएँ खण्डित-विकृत कर दी गईं। अनेक जिनायतनोंकी अढ़लक सम्पत्ति लूट ली गई। अनगिनत सत्शास्त्रोंकी होली कर दी गई। हजारों दुर्लभ जिनेन्द्रप्रतिमाएँ व सत्शास्त्र तस्करोंके हत्थे चढ़ गए।—ऐसे अनेकरूपमें हुण्डावसर्पिणी कलिकाल सद्धर्मतीर्थमंच पर दारुण ताण्डव लीला करता रहा है।

● इसी अवधिमें भट्टारकोंका भी उद्भव हुआ। उन्होंने जैनधर्म-दर्शन-संस्कृतिको बचाने-टिकानेका प्रयास भी किया। परन्तु साधनकी अपवित्रताके कारण अभीष्ट साध्य सिद्ध न हो सका। वस्तुतः धर्म-दर्शन-संस्कृतिकी सुरक्षा व स्थायीत्व हेतु समीचीन सैद्धान्तीय एवम् तदनुरूप बाह्याभ्यन्तर सम्यक् आचरण अर्थात् निश्चय और व्यवहार सिद्धान्तोंकी सुसंगतताका ठोस आधार-बल होना अति आवश्यक होता है। परन्तु वह उन लोगोंमें नहीं सा था। फलस्वरूप

अधिकांश भट्टारकोंमें तत्त्वकी उज्जवलमयी प्रज्ञाके स्थान पर आकांक्षा-पूर्ण मति उत्पन्न हो गई; और उन्होंने मन्त्र–तन्त्र–चमत्कारादिरूप लोक-रंजनीय पद्धतियोंका अनुशरण किया, जिसके कारण सद्धर्मतीर्थको लाभ मिलनेके वजाय नुकसान विशेष हुआ। साथ ही वैसे अपवित्र साधनोंके कारण तीर्थके वाह्य स्वरूपमें अनेक जातिकी विसंगतियाँ भी समाहित हो गईं; जो आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका मूल आम्नायसे तनिक भी सुमेल नहीं है। यद्यपि भट्टारक-प्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी है, फिर भी कहीं कहीं उसके अवशेष विद्यमान हैं।

☐ यहाँ प्रसंगवशात् "जैन परम्परा–संस्कृति-संरक्षण" विषयक कुछ महत्त्वके पहलू परिशीलन हेतु प्रस्तुत हैं: वस्तुस्थिति तो यह है कि श्री तीर्थंकरदेव-प्ररूपित मार्गकी परम्पराके निष्ठ संरक्षणसे ही जैनसंस्कृतिका संरक्षण हो सकता है। तथापि, यह एक जटिल व नाजुक विषय भी अवश्य है। सामान्यतया अधिकांश लोग परम्पराके विषयको मात्र वाह्य आचार–विचारकी मर्यादामें विचारते हैं; परन्तु वह जैनमार्गमें वहीं तक सीमित नहीं होता। सिद्धान्ततः तो जैनमार्गमें 'वाह्याचरण' राग और वीतरागताके मिश्र परिणमनके निमित्तसे उत्पन्न 'नैमित्तिक साधक-पर्याय' है। परन्तु,

उक्त महत्त्वपूर्ण तथ्यकी ओर प्रायः लोगोंका लक्ष्य नहीं होनेसे, तथाकथित धर्मनेताओं सहित सभी लोग उल्लिखित विषयमें मात्र वाह्य परम्पराके निर्वाह हेतु प्रवृत्ति–विचार करते हैं; जो समीचीन तथा निरापद नहीं है। कारण कि वैसी प्रवृत्तिसे कालान्तरमें साम्प्रदायिक बुद्धिजन्य संकुचित मनोवृत्ति, वाह्यक्रियाके आग्रहरूप जड़ता या शुष्काचारादि जैसी अनेक विकृतियोंकी जैनमार्गमें प्रवेश हो जानेकी पूरी सम्भावना रहती है। और ऐसी विकृतियाँ धीरे–धीरे परम्पराका रूप धारण कर जाती हैं; जो कालान्तरमें जैनमार्गके रूपमें ही स्थापित हो जाती हैं। जिससे उनमेंसे विकृति व मूल परम्पराके वारेमें अन्तर समझना प्रायः अशक्य-सा हो जाता है। —ऐसी स्थितिवश वादमें तो वुद्धिशाली लोग भी प्रायः उसी

परम्परा-निर्वाहके आग्रहमें अथवा तो संस्कृति-संरक्षण जैसे ख्यालोंके पीछे वर्तने लगते हैं। और वैसी प्रवृत्तिसे वस्तुतः मात्र विमार्ग–अयथार्थताको ही पोषण मिलता है।

अतएव उक्त संदर्भमें वस्तुस्थितिके विचारसे यह स्पष्ट होता है कि 'परम्परा-संस्कृति-संरक्षण'के विषयमें समीचीन निर्णय व प्रवर्तन करनेका अधिकार भी वीतरागदशा प्राप्त ज्ञानीधर्मात्माको ही है; क्योंकि वे ही श्री तीर्थंकरदेवके आभ्यन्तर वीतरागमार्गकी दृष्टि-सम्पन्न होते हैं। दर्शनमोहनीयके अभावमें उनका निर्मल ज्ञान, सहज सन्तुलित निर्णय करनेकी अद्भुत क्षमता रखता है। अतएव वे ही प्रकृत विषय सम्बन्धित निर्णय–प्रवर्तन करनेके अधिकारी होते हैं। चर्चित संदर्भमें यह तथ्य भी मननीय है कि ज्ञानी धर्मात्मा कभी भी असत्साधन अपनाकर साध्य सिद्ध करनेकी तजवीज नहीं करते हैं; जब कि अन्य लोग प्रतिकूलतादि प्रसंगोंमें असत्साधन द्वारा साध्यको साधनेकी प्रवृत्तिमें संकोच नहीं करते हैं, जिससे अन्ततः सद्धर्मतीर्थकी मूल परम्पराको आघात पहुंचता है।

● अब यहाँ श्री वीरशासनके वर्तमान अनुयायियोंकी भी समीक्षा कर लेना योग्य है। तदर्थ उल्लेखनीय है कि, यदि सांप्रत जैनधर्मावलम्बियोंके आचार–विचारादिको सद्धर्म-सिद्धान्तीय-मर्यादाकी कसौटी पर जाँचा–परखा जाए तो, ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि प्रायः लोग मूल आम्नायसे मानो कोसों दूर चले गये हैं।

वर्तमान जैन समाजके अधिकांश लोगोंका लक्ष्य 'स्वात्मलक्ष्मी' नहीं रहा है। उनका लक्ष्य भौतिक हो जानेसे वे भोग–विलास सम्बन्धी संसाधन जुटानेके पीछे अन्धी दौड़–धूपमें व्यस्त हैं। जिससे उन लोगोंके पास अपने आत्मोत्कर्ष हेतु कुछ सोचने–विचारने जितना भी अवकाश नहीं है। ऐसे लोगोंमें प्रायः बाह्याचार सम्बन्धी भी विवेक नहीं रह गया है। और अमुक लोग तो अन्य धर्ममतवत् प्रवृत्ति करते हुए भी दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह वे लोग सद्धर्मसे विमुख प्रवर्त रहे हैं।

स्थिति तो इतनी विडम्बनीय है कि अमुक जैन लोग अपनी भौतिक लालसाओंकी पूर्ति हेतु, विवेक शून्य हो, वीतरागी देवोंके सम्मुख याचना-मनौती भी करने लगे हैं। और,

कहीं कहीं तो स्तर इतना गिर चुका है कि कई जिनमन्दिरोंमें विराजमान वीतरागी जिनबिम्बोंकी पूजा-अर्चनादि करनेके बजाय कुदेव-देवियोंकी मुख्यता-अर्चनादि देखनेमें आती है।

उपहास्य स्थिति तो यह भी है कि वीरप्रभुके कथित अनुयायी भी अन्य देव-देवियों, कुगुरुओं, कुलिंगियों या लिंगाभासोंके चमत्कारोंके मायाजालमें तथा मन्त्र-तन्त्र-ज्योतिष आदिके व्यामोहमें फँस चुके हैं।

आज समाजके अधिकांश लोग प्रायः सत्संगसे विमुख वर्त रहे हैं और वे असत्संग या कुसंग जैसी प्रबल आत्मघाती प्रवृत्तियोंमें रत हैं।

आज आपसमें तत्त्वकथा-वार्त्ता लुप्त प्रायः हो चली है, उसकी जगह सर्वत्र विकथादिका बोल-बाला हो गया है; तदर्थ साधनोंका बाहुल्य आज घर-घरमें स्पष्ट नजर आता है।

वहीं कुछ धर्मभीरु-भद्रजन बाह्य क्रियाकाण्डमें लीन हो 'क्रिया-जड़' बन गये हैं; तो कुछ मात्र 'शुष्कज्ञानी' हो गये हैं। कहीं अमुक लोग ओघसंज्ञापूर्वक ज्ञान व क्रिया—दोनोंकी प्रवृत्तिमें लगे हैं। परन्तु आज प्रायः जैन समाजमें जिनागम-निर्दिष्ट आगम-अध्यात्म सिद्धान्तोंकी मर्यादानुसार समीचीन प्रवृत्ति अथवा उसके प्रति एकनिष्ठता-प्रतिबद्धताका तो अभाव ही प्रतीत होता है।

वर्तमानकी विचित्र शोचनीय स्थिति तो विशेष मननीय है कि जहाँ इतर धर्मावलम्बी सुसंगठित होकर अपने-अपने समाजको सर्वांग सुदृढ़ करनेमें लगे हैं और अपने अभीष्टमें सफल भी हो रहे हैं; वहाँ हमारे समाजमें परस्पर साधर्मीभावना, सद्भाव, प्रीति, वात्सल्यता, सहिष्णुतादिका अभाव-सा होता जा रहा है। इतना ही

नहीं, आज हमारे बीचमें ऐसे समाजघाती परिबल उदित हो चुके हैं जो समाजकी शक्तिको छिन्न-भिन्न करके, अपनी स्वार्थीवृत्ति और वैयक्तिक अहंता व महत्त्वाकांक्षाकी सम्पूर्तिके उद्वेगवश समाजके घटकोंके बीच कटुताका विष फैला रहे हैं। तदर्थ वे लोग तथ्यहीन-असत्य-अनर्गल बातोंके मुद्दे बनाकर, सत्यसे अनजान लोगोंको व्यामोहित और विभ्रमित करके, उन्हें उकसा कर, आपसमें कलहके वातावरणका सर्जन कर देते हैं। जिसके कारण आज अपनी समाजमें अन्तर्विग्रह वेग पकड़ता जा रहा है और समाज अपनी शक्ति क्षीण करता जा रहा है। और ऐसे लोग सद्धर्म और उसके शाश्वत सिद्धान्तोंको मनमानेरूपमें या साम्प्रदायिक ढांचेमें ढालनेका भी प्रयास कर रहे हैं।

☐ वस्तुतः साम्प्रदायिकबुद्धि जैसी संकुचित मनोवृत्ति सद्धर्म-तीर्थके लिए अत्यन्त प्रतिकूल है। क्योंकि वैसी मनोवृत्ति अनेकानेक विसंगतियों, कदाग्रहों व वैमनस्यतादि अनिष्टोंकी जनक होती है। अतः यदि ऐसी वृत्तिका समुचित परिहार न हो सका तो वह सम्पूर्ण जैनधर्मावलम्बियोंके लिए 'आत्मघाती' सिद्ध होगा। अतएव उक्त मनोवृत्तिरूप विपके निर्विषीकरणका सम्यक् प्रयास समाजके मनीषियोंको आपसमें मिलजुलकर, आपसी विमर्श-विनियोगपूर्वक करना योग्य है। अन्यथा भावी प्रबल!

☐ यद्यपि विगत २५१६ वर्षोंसे प्रवहमान श्री वीरशासन उक्त प्रकारके विकट कलयुगजन्य प्रचण्ड झंझावातोंसे अनेक प्रकारसे जूझता रहा है। तदपि, श्री वीरशासनके सुषमाशाली, दीप्तिमान, उज्ज्वल पहलूके विषयमें उल्लेखनीय है कि: महान् महान् सदभाग्यसे सद्धर्मतीर्थकी दीपशिखा अविरत प्रभासित है। जिसका सर्वश्रेय, मूलआम्नायके प्रति सजग, अजेय, सिंहवृत्तिवंत, मूर्तिमंत मोक्षतत्त्व-स्वरूप, धर्मधुरंधर, धर्मदिवाकर ऐसे महान् सामर्थ्यवंत परम श्रद्धेय आचार्यभगवन्त सर्व श्री कुन्दकुन्दस्वामी, उमास्वामी, समन्तभद्रस्वामी, वीरसेनस्वामी आदि आचार्यों सहित अन्य पूर्व व उत्तरवर्ती आचार्यों-मुनिराजोंको है कि, जिन्होंने द्रव्य व भाव जिनशासनरूप सद्धर्मतीर्थ-

पथको अपनी महिमामण्डित विद्यमानतासे एवम् अपनी बाह्याभ्यन्तर पावन साधनाके बलसे देदीप्यमान रखा। धन्य है ऐसे संत-महात्मा! जयवन्त हो उनकी सुमंगल विद्यमानता! त्रिकाल वंदनीय है उनकी पवित्र साधना!

वर्तमानमें भी उन्हीं धर्मस्तम्भ, निष्कारण करुणासागर, धर्म-मूर्तियोंके 'अक्षरदेह'से 'सर्व जिनशासन' जीवन्त है, जयवन्त वर्त रहा है; जो आत्मसाधना-पथके पथिकों और आत्म-अन्वेषकोंके मार्ग-प्रदर्शन हेतु दीपशिखावत् परम उपकारभूत है। और उसके आलोकमें साधकगण अखण्ड मोक्षमार्ग साध रहे हैं।

यद्यपि वेदान्त-बौद्ध आदि आस्तिक्य दर्शनोंके धर्मप्रणेता प्रखर बुद्धिमान हुए हैं। उनमें उन लोगोंका बुद्धिकौशल, उपदेशबोध व तद्सम्बन्धित मीमांसा दृष्टिगोचर तो होती है परन्तु उनकी तात्त्विक-दृष्टिसे तुलना व मूल्यांकन करनेमें आवे तो उन सभीमें—'पदार्थ-दर्शनके अभावमें'—मात्र चारित्रमोहजनित परिणामोंकी मन्दता प्राप्त करानेके लक्ष्यके अतिरिक्त कुछ विशेष नहीं है। मूलतः उनमें अतीन्द्रिय आत्मस्वभावके लक्ष्यका व विज्ञानका अभाव वर्तता है, जो अन्तर्दृष्टिजन्य है। अतः बाह्य व स्थूलदृष्टिसे वैसे ज्ञान और चारित्रके क्षायोपशमिकभावकी महिमा करके, अन्तर-सूक्ष्म स्वभावदृष्टिको चूकना योग्य नहीं है।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जैनदर्शन सर्वांग निर्दोष व पूर्ण रूपसे वैज्ञानिक और सर्वोत्कृष्ट है। कारण कि, इसमें परिपूर्ण शुद्धिरूप ध्येयके लक्ष्यसे आरम्भ होकर, तदनुसार प्रथम ही दर्शनमोह व अनन्तानुबन्धी जनित चारित्रमोहके अभावपूर्वक मोक्षमार्गका मंगल प्रारम्भ होता है। तभी आविर्भूत होते अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द तथा उसके विकासक्रमसे लेकर परिपूर्ण शुद्धता पर्यन्तकी विधिकी अद्भुत संकलनासे विशिष्ट प्रतिपादित उपदेशबोध व वस्तु-विज्ञानके सिद्धान्तोंके संतुलित विवेचनका सुन्दर प्रवाह, उसमें उपदिष्ट है। मुक्तिमार्गकी ऐसी अनुपम गाथाको, सर्वांग निर्दोष वीतरागी दशामें

आरूढ़ होकर अतीन्द्रिय पदार्थके स्वानुभवमें कलम डुबाकर लिखा गया है। उसे परलक्ष्यीज्ञानके मर्यादित उघाड़के साथ, किस भाँति तुलनात्मक दृष्टिकोणसे, विचारा जाए? इस दर्शनके अनुशरणसे ही मुक्तिका समाचीन मार्ग प्राप्त होता है; अतः यही यथार्थ, सार्थक, अनुपम, परम शोभनीय सत् दर्शन है।

—ऐसे इस परम पवित्र गुणनिधिस्वरूप सत्‌दर्शन और उसके मूलमार्गमें तनिक सी भी संकुचितता, साम्प्रदायिकता, चमत्कारादि प्रत्ययी व्यामोह, विपरीत अभिनिवेशता, महत्त्वाकांक्षीवृत्ति, लोकसंज्ञा, अहंता, स्वेच्छाचारिता, शिथिलाचारिता आदि कलुषितवृत्तिरूप दूषणोंके लिए कहीं कोई स्थान ही नहीं है। यह तो एकान्त निर्दोष व अनन्त सुख प्राप्तिका दर्शन है। एकमेव बाह्याभ्यन्तर वीतरागता–निष्कलंकता ही सद्धर्मतीर्थस्वरूप 'जिनशासन'का मूल है। परन्तु,

वर्तमान जैनसमाजमें अनेक प्रकारके विपर्यासजन्य दूषण पल्लवित हो रहे हैं, जिनका उल्लेख ऊपरमें कर ही चुके हैं। जिनको लेकर यत्र-तत्र अनिष्ट घटनाएँ प्रायः निरन्तर सुनने, पढ़ने या देखनेमें आती हैं। परन्तु इनके मूलका अन्वेषण करनेपर यही तथ्य उभरता है कि अधिकांश लोगोंमें 'जिनशासन'के समीचीन स्वरूपकी ही अनभिज्ञता वर्त रही है। इसीलिए यहाँ आत्मार्थियोंके अवगाहन हेतु 'जिनशासन'का सत्य स्वरूप प्रस्तुत है :—

'जिनशासन'के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। इन दोनोंमें समस्त जिनशासन समाविष्ट हो जाता है। ऐसा विधान जिनवाणी अर्थात् श्रुतमें है। इसके संदर्भमें 'श्री समयसार' गाथा–१५ उल्लेखनीय है :

"जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णम विसेसं।
अपदेस सन्त मज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥"

'जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) देखता (—अनुभवता) है, वह

सर्व जिनशासनको देखता (—अनुभवता) है,—जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा आभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।'

उक्त गाथासे यह स्पष्ट होता है कि, 'समस्त जिनशासन' द्रव्य-भाव श्रुतज्ञानरूप है। तत्त्वतः भावश्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माको द्रव्यकर्म-भावकर्म-नौकर्म रहित, शुद्ध, सामान्य, एकरूप अनुभवता है। और जिसे भावश्रुतज्ञान है उसका ही द्रव्यश्रुतज्ञान समीचीन होता है, और उसके विकल्पात्मक-ज्ञानको ही द्रव्यश्रुत कहा जाता है। भाव और द्रव्य—दोनों मोक्षमार्गमें सापेक्ष हैं। जैसे कि जिनमें भावलिंग है उन्हींके ही बाह्य त्यागको द्रव्यलिंगकी संज्ञा मिलती है; परन्तु अन्य त्यागीको नहीं। उसी प्रकार निर्विकल्प भावश्रुतरूप स्वानुभवीके सविकल्पज्ञानको ही द्रव्यश्रुत संज्ञा मिल सकती है; अन्य ज्ञानको नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीव (द्रव्यदृष्टिसे) अपने आत्माको परिपूर्ण व शुद्ध मानता है तथा उसे ही (पर्यायदृष्टिमें) सर्वस्वरूपसे उपादेय जानता है।—ऐसा 'सम्यक् दृष्टिकोण' ही समस्त द्रव्यश्रुतका केन्द्र स्थान है। उसे इस प्रकार वह स्यात् पदसे समीचीन समझता है अर्थात् ग्रहण करता है।

सम्यग्दृष्टिको अपने अनन्त चतुष्टय मण्डित शुद्धात्माका जो अतीन्द्रिय सहज प्रत्यक्ष स्वानुभव वर्तता है, वही 'भावश्रुतज्ञान' है। उसने इस ही अनुभवज्ञानकी जातिसे पूर्ण ज्ञानकी जातिको पहचाना है, अर्थात् उसको केवलज्ञानरूप स्वभावके अवलम्बनसे भावश्रुतज्ञान प्रस्फुटित हुआ है।

उपर्युक्त कारणवश उद्धृत गाथामें आचार्यभगवन्तने अभेदनयसे स्वानुभव विभूषित धर्मात्माको 'समस्त जिनशासन' कहा है। और ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे ही धर्मात्माकी उक्त यथार्थ विशिष्टता दर्शायी है। क्योंकि 'भाव जिनशासन' तो जिनस्वरूप निजपदकी आराधना-साधनाके भावरूप है; और ऐसे भावके धारक मोक्षमार्गमें विचरते धर्मात्मा होते हैं। इसीलिए मोक्षमार्गी धर्मात्मा स्वयं ही द्रव्य-

भावरूप 'समस्त जिनशासन' हैं।—ऐसा आशय, उक्त गाथासे स्पष्ट होता है।

अतः मोक्षमार्गी धर्मात्मा स्वयं मूर्तिमंत जिनशासन होनेसे वे ही द्रव्यश्रुत-तीर्थ प्रकाशनादिरूप प्रवृत्ति करनेके अधिकारी हैं; अन्य नहीं।

ज्ञानी धर्मात्माकी अविद्यमानतामें अथवा विद्यमान होने पर भी उनकी उपेक्षापूर्वक होती बाह्य तीर्थ प्रभावनादिकी प्रवृत्तियोंमें कहीं न कहीं विपर्यास हो जाना अवश्य सम्भवित होता है। और कभी तो उससे वैसी कोई तीर्थ-विसंगत पद्धति-प्रणालिका भी प्रवेश कर जाती है कि जो कालान्तरमें अनेक प्रकारकी विपरीतताओं-विकृतियोंके सर्जन होनेका कारण सिद्ध होती है।

यद्यपि रूढ़िअर्थमें द्रव्यतीर्थकी बाह्य प्रवृत्तियोंको अथवा उनमें संलग्न अनुशासित जन समुदायको भी जिनशासन कहने-माननेमें आता है; परन्तु वह वस्तुतः सम्यक् नहीं है। क्योंकि समस्त द्रव्यजिनशासनका प्राण तो भावजिनशासन होता है, और उसके अभावमें बाह्य तीर्थ-प्रवृत्ति आत्मविहीन-निष्प्राण जैसी मृतकलेवरवत् है।

ज्ञानीधर्मात्माके ज्ञानमें समीचीनता वर्तती है। उनमें सद्धर्मतीर्थ सम्बन्धित प्रत्येक प्रवृत्तिके शोधनकी क्षमता रहती है। उनके पास प्रकृष्ट विवेकरूप सम्यक् नेत्र होते हैं, जिससे ज्ञानीधर्मात्माके सर्व आशय व प्रवृत्ति निर्दोष व न्यायशुद्ध होती है।

वस्तुतः भावजिनशासनके सद्भावमें ही द्रव्यजिनशासन सर्वांग निर्दोषतापूर्वक पल्लवित होता है, हो सकता है; सुशोभित रहता है। और उससे ही सद्धर्मतीर्थकी समीचीन प्रभावना होती है। किंतु उसके अभावमें आगम-अध्यात्म सिद्धान्तों और तदनुरूप आचार-विचारमें मर्यादा, यथार्थता, निर्दोषता और सन्तुलन रह पाना दुष्कर है। परिणामस्वरूप कभी आगम-सिद्धान्तोंके मण्डनमें अध्यात्म-सिद्धान्त खण्डित हो जाते हैं; या फिर अध्यात्म-सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें अतिरेक

हो जानेसे आगम-सिद्धान्त खण्ड़ित हो जाते हैं। और कभी दोनोंके सन्तुलन करनेमें सूक्ष्म असन्तुलनरूप विपर्यास रह जाता है। तो कभी निश्चय–व्यवहारकी सुसंगता नहीं रह पाती जिससे नयाभास आविर्भूत हो जाता है। तो कभी मुख्य–गौण, प्रयोजन–अप्रयोजन, हेय–उपादेयभूत वातों/तत्त्वोंके अवधारणमें समीचीनता नहीं रह पाती। कभी साधन-विषयक विपर्यास हो जाता है। तो कभी मध्यस्थताके बहाने या परम्परादिके आग्रहवश भी व्यामोह उत्पन्न हो जाता है। सद्विवेकके अभावमें विपरीत अभिनिवेशयुक्त प्रवृत्तियाँ प्रवर्तती हैं।—इत्यादिक अनेक प्रकारके सूक्ष्म या स्थूल विपर्याससे तीर्थमर्यादाका अतिक्रमण या असन्तुलन हो जानेसे सद्धर्मतीर्थ हेतु होनेवाली प्रकाशन–प्रचार–प्रभावनादिरूप प्रवृत्तियाँ तीर्थके लिए लाभदायी नहीं रहती वरन् हानिकारक ही सिद्ध होती हैं। साथ ही दूसरी ओर वैसी प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्तिमें भी विपर्यासजन्य दर्शनमोहनीय—गृहीत मिथ्यात्व तीव्र हो जाता है। अतएव ऐसी वस्तुस्थितिके कारणसे 'उक्त प्रकार' व्यक्ति व शासन—दोनोंके लिए ही लाभकारी नहीं होता।

वास्तवमें जिनमें 'भावजिनशासन' प्रगट नहीं है, वे 'द्रव्य-जिनशासन'की कोई भी प्रगट प्रवृत्ति करनेके अधिकारी ही नहीं होते।—इस तथ्यको अपने हृदयपटल पर टंकोत्कीर्ण करके, 'कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए' ऐसा अभिप्राय निश्चित रखकर—फिर भी, कोई प्रवृत्तिका बोझ सिर पर आ पड़े तो, उदयवश प्रवृत्ति करनी पड़ती है—ऐसा समझकर, अत्यन्त जागृति पूर्वक, आत्मश्रेयकी तीव्र भावना और दृढ़ मोक्षेच्छा सहित—विद्यमान ज्ञानीधर्मात्माके चरण सान्निध्यमें रहकर, उनके प्रति सर्वार्पणता व एकनिष्ठता पूर्वक, उनकी आज्ञा-आराधन सहित, उनके आश्रयमें वर्तते हुए ही तीर्थ-प्रभावनादिकी कोई भी बाह्य—प्रगट प्रवृत्ति करना उनके लिए निरापद है; और तभी वे उल्लिखित सम्भवित दोषोंसे बच सकते हैं; अन्यथा तो बाह्य तीर्थप्रवृत्ति करना एक बड़ा भारी जोखिमवाला कार्य है। अतः आत्मार्थी जीवोंको इस तथ्यको अति गम्भीरतापूर्वक अवधारण

करना योग्य है।

जो जीव संसारके त्रिविध तापसे संतप्त हुआ हो और वैसी स्थिति उसे असह्य बन पडी हो; तथा जिसे रंचमात्र भी कषाय कलंक नहीं सुहाता हो, जिससे उसे पूर्ण निष्कलंक होनेकी उत्कट भावना वर्तती हो—ऐसे आत्माओंके उद्धार व आश्रय हेतु एकमात्र कल्पद्रुमतुल्य 'जिनशासन' ही आश्रयरूप है; और जैसे कि ऊपर दर्शाया गया है तद्नुसार 'विद्यमान ज्ञानी धर्मात्मा' ही "समस्त जिनशासन" हैं, मूर्तिमन्त जिनशासन हैं।

"जैनं जयतु शासनम्"

भावनगर, —शशीकांत म. सेठ
दिनांक : २२-३-१९९०

ॐ

अहो !

सर्वोत्कृष्ट शांत रसमय सन्मार्ग-

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शांत रसप्रधान मार्गके

मूल सर्वज्ञदेवः—

अहो !

उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसको जिन्होंने सुप्रतीत कराया

ऐसे परमकृपालु सद्‌गुरुदेव—

इस विश्वमें सर्वकाल

आप

जयवंत रहे, जयवंत रहे।

—श्रीमद् राजचन्द्र

प्रशममूर्ति पूज्य बहिन श्री चम्पाबेन

જ્ઞાનાનંદ સ્વભાવમાં, બાળવયે કરી જોર;
પૂર્વારાધિત જ્ઞાનનો, સાંધ્યો મંગલ દોર.

રિદ્ધિ સિદ્ધિ-નિધાન છે ગંભીર ચિત્ત ઉદાર;
ભવ્યો પર આ કાળમાં અદ્‌ભુત તુજ ઉપકાર.

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

जिणसासणं सव्वं

['गुरुदेवश्रीके वचनामृत' मेंसे उद्धृत रत्न]

भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजनके समय रास्ते पर आकार मुनिराजके आगमनकी प्रतीक्षा करते और मुनिराजके पधारने पर परम भक्ति पूर्वक आहारदान देते थे। अहा! मानों आँगनमें कल्पवृक्ष फलित हुआ हो, उससे भी विशेष आनन्द धर्मात्माको — मोक्षमार्ग-साधक मुनिराजको अपने आँगनमें देखकर — होता है। साधक गृहस्थकी दृष्टि अपने राग रहित चैतन्यस्वभाव पर है और सर्वसंग-त्यागकी भावना है, तो भी उसे वैसे शुभभाव आते हैं। वे उस शुभरागकी जितनी मर्यादा है उतनी जानते हैं। अन्तरका मोक्षमार्ग तो रागसे परे चैतन्यस्वभावके आश्रयसे परिणमता है। श्रावकके व्रतमें अकेले शुभरागकी बात नहीं है। जो शुभराग है उसे तो जैनशासनमें पुण्य बतलाया है और उसी समय श्रावकको स्वभावके आश्रयसे जितनी शुद्धता वर्तती है उतना धर्म है; वह परमार्थव्रत है और वही मोक्षका साधन है — ऐसा जानना। २०.

*

जो जीव पापकार्योंमें तो उत्साह पूर्वक धन खर्च करते हैं और धर्मकार्योंमें कृपणता करते हैं उन्हें धर्मके प्रति सच्चा प्रेम नहीं है। धर्मके प्रेमी गृहस्थको संसारकी अपेक्षा धर्मकार्योंमें विशेष उत्साह वर्तता है। ३४.

※

सत्समागम द्वारा आत्माको पहचान करके आत्मानुभव कर! आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी जीवकी ज्ञानधारा चलित नहीं होती। तीनों काल व तीनों लोककी प्रतिकूलताओंके ढ़ेर एक साथ आ जाएँ तो भी ज्ञातारूपसे रहकर उन सभीको सहन करनेकी शक्ति आत्माके ज्ञायकस्वभावकी एक समयकी पर्यायमें विद्यमान है। जिसने आत्माको शरीरादि व रागादिसे भिन्न जाना है उसे ये परीषहोंके ढ़ेर जरा भी प्रभावित नहीं कर सकते — चैतन्य अपनी ज्ञातृधारासे जरा भी विचलित नहीं होता बल्कि स्वरूपस्थिरतापूर्वक दो घड़ी स्वरूपमें लीन हो जाये तो पूर्ण केवलज्ञान प्रकट कर ले, जीवन्मुक्तदशा हो जाये व मोक्षदशाको संप्राप्त हो। ३८.

※

ज्ञानीको भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप व राग आकुलतास्वरूप — ऐसे दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। त्रिकाली नित्यानन्द चैतन्यप्रभु ऊपर दृष्टि प्रसरने पर साथमें जो ज्ञान होता है वह, चैतन्य व रागको अत्यन्त भिन्न जानता है। जिसको तत्त्वकी दृष्टि हुई है उसीको सम्यग्ज्ञान होता है। जिसको दृष्टि प्राप्त नहीं है उसमें चैतन्य व रागको भिन्न जाननेकी क्षमता नहीं होती। ४९.

※

मुनिदशा आने पर सहज ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा हो जाती है। मुनिकी दशा तीनों कालमें नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष या सम्प्रदायकी बात नहीं है बल्कि अनादि सत्य वस्तुस्थिति है।

शंका :—मुनिदशामें वस्त्र रहे तो क्या आपत्ति है? वस्त्र तो परवस्तु है वह कहाँ आत्माको बन्धनरूप है?

समाधान :—वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्माको बन्धनकर्ता नहीं है, यह बात भी सही है; परन्तु वस्त्र-ग्रहणकी जो बुद्धि है — वह रागमय बुद्धि ही मुनिदशाकी अवरोधक है। मुनिको अन्तर रमणता करते करते इतनी उदासीन दशा सहज ही हो गई होती है कि वस्त्र-ग्रहणका विकल्प ही नहीं उठता। ६४.

*

यद्यपि तालाबके पानीकी ऊपरी सतह बाहरसे समान लगती है, परन्तु अन्दर प्रवेश करके उसकी गहराईका माप करने पर किनारे और मध्यकी गहराईमें कितना बड़ा अन्तर है, यह खयालमें आता है। उसी प्रकार ज्ञानी व अज्ञानीके वचन/कथनको सरसरी तौरसे देखने पर वे एक जैसे लगें, परन्तु अन्तरंग गहन रहस्यको लक्ष्यगत करने पर दोनोंके आशयमें कितना बड़ा अन्तर है, वह समझमें आता है। ७०.

*

अहो धन्य यह मुनिदशा! मुनिराज फरमाते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभावमें झूलनेवाले हैं; हम इस संसारके भोग हेतु अवतरित नहीं हुए हैं। अब हम अपने आत्म-

स्वभावमें प्रवृत्त होते हैं । अब हमारे स्वरूपमें विशेष लीन होनेका यह अवसर आया है। अन्तर आनन्दकन्दस्वभावकी श्रद्धा सहित उसमें रमणता हेतु जागृत हुए हमारे भावमें अब भङ्ग नहीं पड़ना है। अनन्त तीर्थंकरोंनें जिस पन्थमें विचरण किया हम भी उस ही पन्थके पथिक हैं । ७५.

*

ज्ञानीके आंतरिक जीवनको समझने हेतु अन्तरंग पात्रता चाहिए । धर्मात्मा अपने पूर्व प्रारब्धके योगसे बाह्य संयोगमें खड़े हों तो भी उनकी परिणति अन्दरमें कुछ अन्य ही कार्य करती रहती है । संयोगदृष्टिसे देखे तो वह स्वभाव समझ नहीं सकता । धर्मीकी दृष्टि संयोग ऊपर नहीं बल्कि आत्माके स्वपर-प्रकाशक स्वभाव ऊपर होती है। ऐसे दृष्टिवन्त धर्मात्माका आंतरिक जीवन अन्तर-दृष्टिसे समझनेमें आता है, बाह्य संयोग परसे उनका माप नहीं निकलता । ७६.

*

ज्ञानी धर्मात्माको भगवानकी पूजा-भक्ति आदिके भाव आते हैं परन्तु उनकी दृष्टि राग रहित ज्ञायक आत्मा ऊपर जमी रहती है । उन्हें आत्म-भान है; उन्हें उस भानमें धर्म सतत वर्तता है। यथार्थ समझनेवालेको वीतराग देव-शास्त्र-गुरुके प्रति भक्तिका प्रशस्त राग आये विना नहीं रहता । मुनिराजको भी ऐसे भक्तिके भाव आते हैं, जिनेन्द्र-प्रभुके नामस्मरणसे भी उनका चित्त भक्तिभावसे उल्लसित हो जाता है । अन्तरंगमें वीतरागी आत्माका लक्ष्य हो जाए और बाह्य अप्रशस्त राग न टले, यह कैसे बने ? जो लोग भगवानकी भक्तिके भावका निषेध करते हैं परन्तु

खाने-पीने आदिके कलुषित रागमें संयुक्त होते हैं वे तो मर कर दुर्गतिमें जायेंगे। 'मेरा स्वरूप ज्ञान मात्र है राग मेरा स्वरूप नहीं'—जो ऐसे सत्यको जानते हैं उनकी लक्ष्मी आदि परपदार्थोंके प्रतिका ममत्व सहज ही घट जाता है और भगवानकी भक्ति-प्रभावना आदिका भाव उल्लसित होता है। तथापि वे यह जानते हैं कि यह राग है, धर्म नहीं है। अन्तर शुद्ध चिदानन्दस्वरूपको जान कर, उसे प्रगट किये बिना जन्म-मरण टलनेवाला नहीं है। ८१.

*

धर्म भी ज्ञानीको होता है व ऊँचे पुण्य भी ज्ञानीको बन्धते हैं। अज्ञानीको आत्माके स्वभावका भान नहीं, इसीलिए उसके धर्म भी नहीं और ऊँचे पुण्य भी नहीं। तीर्थंकरपद, चक्रवर्तीपद, बलदेवपद — ये सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही प्राप्त होते हैं; कारण कि ज्ञानीको यह भान है कि—एक मेरा निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है उसके सिवाय रागका एक अंश या पुद्गलका एक रजकण भी आदरयोग्य नहीं है। —ऐसी प्रतीति रहने पर भी वह अभी सम्पूर्ण वीतराग नहीं होनेसे उसे आंशिक राग आ जाता है उसमें किसी विशिष्ट प्रकारके रागके कारण तीर्थंकर, चक्रवर्ती वगैरह ऊँची पदवी बन्ध जाती है। ८२.

*

अहो! अडोल दिगम्बरवृत्तिके धारक, वनमें रहनेवाले और चिदानन्दस्वरूप आत्मामें डोलनेवाले मुनिवर! आत्माके अमृतकुण्डमें मग्न होकर छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते हैं, उनका अवतार सफल है। ऐसे सन्त मुनिवर भी वैराग्यकी

बारह भावना भाते हुए वस्तुस्वरूपका चिंतवन करते हैं। अहा! तीर्थंकर भी दीक्षा पूर्व जिनका चिंतवन करते हैं ऐसी वैराग्यरस-रसित बारह भावनाओंको भानेसे किस भव्यको आनन्द स्फुरित न हो? और किस भव्यको मोक्षमार्गप्रति उत्साह जागृत न हो? १०३.

*

दृष्टिका विषय द्रव्यस्वभाव है, उसमें तो अशुद्धताकी उत्पत्ति ही नहीं है। समकितीको किसी एक भी अपेक्षासे अनन्त संसारका कारणरूप मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध नहीं होता; परन्तु इस परसे कोई यह मान लेवे कि उसे तनिक भी विभाव व बन्ध ही नहीं, तो वह एकान्त है। समकितीको अन्तर शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी अभी आसक्ति शेष है जो उसे दुःखरूप लगती है। रुचि और दृष्टिकी अपेक्षासे भगवान आत्मा तो अमृतस्वरूप आनन्दका सागर है जिसके नमूनेके रूपमें जो समकितीको वेदन वर्तता है उसकी तुलनामें शुभ व अशुभ — दोनों राग दुःखमय लगते हैं; परन्तु उसके अभिप्रायमें तो वे विष और काले नाग तुल्य प्रतीत होते हैं। १०६.

*

ज्ञानीको यथार्थ द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है; वह द्रव्यके आलम्बन द्वारा अन्तर स्वरूपस्थिरतामें वृद्धि करता जाता है; परन्तु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मन्द है, पूर्णरूपसे शुद्धस्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता, तब तक वह शुभ परिणाममें संयुक्त होता है, परन्तु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है; उनकी स्वभावमें 'नास्ति' है अतएव

दृष्टि उनका निषेध करती है। ज्ञानीको हर समय यही भावना वर्तती है कि इसी क्षण पूर्ण वीतराग हुआ जाता हो तो मुझे ये शुभ परिणाम भी नहीं चाहिए, परन्तु उसे अपूर्ण दशावश शुभभाव आये बिना नहीं रहते। १३८.

*

धर्मीको शुभ परिणाम भी आफतरूप लगते हैं; व उनसे भी छूटना ही चाहता है; परन्तु वे आये बिना नहीं रहते। ये भाव आते हैं तो भी वह स्वरूप स्थिरताका उद्यमी रहता है। उसके कोई कोई समय बुद्धिपूर्वकके सभी विकल्प छूट जाते हैं और वह स्वरूपमें सहज स्थिर हो जाता है उस वक्त अपनेमें सिद्धभगवान जैसा आंशिक अनुभव करता है; परन्तु वह वहाँ स्थायीरूपमें स्थिर नहीं रह सकनेकी वजहसे शुभ परिणाममें संयुक्त होता है। १३९.

*

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् स्वयंकी (पुरुषार्थ-) शक्ति एवम् बाहरके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको देखकर प्रतिमा या मुनिपना लेता है, देखादेखीसे प्रतिमा नहीं लेता। ये सभी दशायें सहज होती हैं। १४१.

*

अहो! मुनिवर तो आत्माके परम आनन्दमें झूलते झूलते मोक्षकी साधना कर रहे हैं। आत्माके अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्षकी सिद्धि होती है। दिगम्बर साधु यानी साक्षात् मोक्षका मार्ग। ये तो छोटे सिद्ध हैं, अन्तर चिदानन्दस्वरूपमें झूलते झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं।

पंचपरमेष्ठींकी पंक्तिमें जिनका स्थान है ऐसे मुनिराजकी महिमाकी क्या बात ! ऐसे मुनिराजके दर्शन हों तो भी महान आनन्दकी बात है। ऐसे मुनिवरोंके तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणारविंदको नमन करते हैं। धन्य यह मुनिदशा ! हम भी इस दशाकी भावना भाते हैं। १४२.

*

जहाँ मोहयुक्त मनुष्य ऐसे मनोरथ सेवन करता है कि 'मैं कुटुम्ब और रिश्तेदारोंमें अग्रगण्य होऊँ, मेरे धन, घर और पुत्रोंकी बहुत अभिवृद्धि हो तथा मैं अपने परिवारको सर्वाङ्गीण भरा-पूरा छोड़कर मरूँ।' वहाँ गृहस्थाश्रममें रहा हुआ धर्मात्मा आत्माकी प्रतीतिपूर्वक पूर्णताके लक्ष्यसे ऐसे तीन मनोरथ सेवन करता है: (१) मैं सर्व सम्बन्धसे निवृत्त होऊं, (२) मैं स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा विषय-कषायरूप अभ्यन्तर परिग्रहको त्याग करके निर्ग्रंथ मुनि होऊं, (३) मैं अपूर्व समाधिमरणको प्राप्त करूँ। १६९.

*

सम्यग्दृष्टि यानी कि जिसे आत्माके पूर्ण स्वभावका अन्तरमें विश्वास लाकरके आत्माका यथार्थ श्रद्धान-सम्यग्दर्शन हुआ हो, वह। मैं ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त शक्तियोंसे भरपूर पदार्थ हूँ—ऐसा प्रथम विश्वास आया तब अन्तरमें आत्माका अनुभव हुआ। पूर्ण स्वभावको ग्रहण करनेसे अन्तरमें विश्वास उत्पन्न होता है। जीवका विश्वास अनादिसे वर्तमान पर्यायमें है; परन्तु जहाँ यह पर्याय है वहाँ ही पीछे गहरे, इसीके तलमें समूची पूर्ण वस्तु विद्यमान है; जो अनन्त अनन्त अपरिमित शक्तियोंका सागर है, उसका

जिसे अन्तर विश्वास आये और जो अन्तर अनुभवमें जाये उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। १७२.

*

किसीको ऐसा लगे कि मुनिराजको जंगलमें अकेले-अकेलेको कैसे सुहाता होगा? अरे भाई! मुनिराज तो निजानन्दमें झूलते हुए जंगलमें भी परम सुखी हैं; वहाँ जगतका रागद्वेषजन्य कोलाहल नहीं है। आत्माका परवस्तुके साथ मिलन ही नहीं है, इसलिए आत्मा परके सम्बन्ध-विना स्वयमेव अकेला स्वयं स्वयंमें परम सुखी है। आत्माको सम्बन्धसे सुख प्राप्त हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव स्वयंके ऐसे आत्माको अनुभव करते हैं और उसे ही उपादेय जानते हैं। १७६.

*

ज्ञानीको अन्तरमें स्वसंवेदनज्ञान प्रस्फुटित हुआ वहाँ स्वयंको उसका वेदन आया, पीछे उसे अन्य कोई जाने या न जाने—उसकी कोई अपेक्षा नहीं। जैसे सुगंधित फूल खिलता है उसकी सुगंध अन्य कोई लेता है या नहीं उसकी अपेक्षा फूलको नहीं है, वह तो स्वयं स्वयंमें ही सुगंधसे खिला है; वैसे ही धर्मात्माको स्वयंका आनन्दमय स्वसंवेदन प्रगट हुआ, वह कोई अन्यके प्रदर्शन हेतु नहीं है; अन्य जाने तो स्वयंको शान्ति मिले—ऐसा प्रकार धर्मीको नहीं होता; वे तो स्वयंमें अकेले-अकेले निज एकत्वमें आनन्दरूप परिणमन कर ही रहे हैं। १८६.

*

अहा! आठ वर्षका नन्हा-सा राजकुमार जब दीक्षा

लेकर मुनि होता है तब वह वैराग्यका अद्भुत दृश्य! आनन्दमें लीनता! जैसे नन्हे-से सिद्धभगवान ऊपरसे पृथ्वी पर पधारे हों! वाह रे वाह! धन्य यह मुनिदशा!

ये नन्हे-से मुनिराज जब दो तीन दिनोंमें आहारके लिए निकलें तब आनन्दमें झूमते झूमते धीरे धीरे चलते हुए पधार रहे हों और योग्य विधिके मिलने पर जब वे अपने छोटे छोटे हाथोंको अंजलिबद्धकर आहारग्रहण हेतु खड़े हों, ...अहा! यह दृश्य कैसा होगा!

तत्पश्चात् ये आठ वर्षके मुनिराज आत्म-ध्यानमें स्थिर होकर केवलज्ञान प्रगट कर सिद्ध हो जायें! — आत्माकी ऐसी सामर्थ्य है।

वर्तमानमें भी विदेहक्षेत्रमें श्री सीमन्धरादि भगवानके समीप आठ आठ वर्षके राजकुमारों द्वारा दीक्षा ग्रहणके वैसे प्रसंग बनते हैं। १८९.

※

यथार्थ दृष्टि होनेके पश्चात् भी ज्ञानी, देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति वगैरहके शुभ भावमें संयुक्त होता है; परन्तु वह ऐसा नहीं मानता कि इससे धर्म होगा। सम्यग्दर्शन होनेके बाद स्थिरतामें विशेष वृद्धि होने पर उसे व्रतादिके परिणाम आते हैं, परन्तु वह उससे धर्म नहीं मानता। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी निर्मल शुद्ध पर्याय जितने जितने अंशमें प्रगट होती है वह उसे ही धर्म मानता है। दया–पूजा–भक्ति वगैरहके शुभ परिणाम तो विकारी भाव हैं; उनसे पुण्य बन्ध होता है; लेकिन धर्म नहीं होता। १९२.

※

सम्यग्दृष्टि ज्ञातापनेके कारण निश्चयसे विरागी है, वह उदयमें आये हुए कर्मको मात्र जान ही लेता है। ज्ञानी भोगोपभोगमें होते हुए भी ऐसा जानता है कि राग व शरीरादिकी समस्त क्रिया पर हैं, और स्वयं ज्ञातारूपसे परिणमन कर रहा है न! १९४.

*

ज्ञानीको देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति, पूजा, प्रभावना वगैरहके जैसे शुभ भाव होते हैं वैसे अज्ञानीको होते ही नहीं। १९५.

*

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माकी दृष्टि अन्तरके ज्ञानानन्दस्वभाव ऊपर है, क्षणिक रागादि ऊपर नहीं। उसकी दृष्टिमें रागादिका अभाव होनेसे उसके (दृष्टि-अपेक्षासे) संसार कहाँ रहा? राग रहित ज्ञानानन्दस्वभाव ऊपर दृष्टि होनेसे वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टिमें मुक्ति ही है; मुक्तस्वभाव ऊपरकी दृष्टिमें बन्धनका अभाव है। स्वभाव ऊपरकी दृष्टि बन्धभावको अपनेमें स्वीकारती नहीं, इसलिए स्वभावदृष्टिवंत समकिती मुक्त ही है। 'शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव'— शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा ज्ञानी खरेखर मुक्त ही है। २०१.

*

कोई जीव नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो, वस्त्रका एक धागा भी उसके पास न हो, परन्तु परवस्तु मुझे लाभकारी है—ऐसा अभिप्राय हो—तब तक, उसके अभिप्रायमेंसे तीन कालकी एक भी वस्तु नहीं छूटी है। परमें एकत्वबुद्धि विद्यमान है, परवस्तु मुझे लाभप्रद है—जब तक ऐसा अभिप्राय

है—तब तक, उसके भावमेंसे तीन काल व तीन लोकके अनन्त पदार्थ छूटे नहीं हैं। २०७.

*

जैसे घोर निद्रामग्न व्यक्तिको अपने आसपासके जगतका भान नहीं रहता है; वैसे ही चैतन्यकी अत्यन्त शान्तिमें स्थिर हुए मुनिवरोंको जगतके बाह्य विषयोंके प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं होती; अन्तर स्वरूपलीनतामेंसे बाहर निकलना रुचता नहीं; आसपास बाघ-सिंह दहाड़ते हों तोभी उनसे भयभीत नहीं होते अर्थात् स्वरूपस्थिरतासे जरा भी चलित नहीं होते। अहा! धन्य यह मुनिदशा! २११.

*

अहा! मुनिदशा कैसी होती है उसका विचार तो करो! छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते ये मुनिराज स्वरूपमें गुप्त हो गये होते हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनिका भावलिंग है और देहकी नग्नदशा—वस्त्रपात्र रहित निर्ग्रंथदशा—यह उनका द्रव्यलिंग है। उन्हें अपवाद—व्रतादिका शुभ राग आता है, लेकिन वस्त्रग्रहण या अधःकर्म, तादृश उद्देशिक आहार ग्रहणका भाव नहीं होता। अहा! श्री ऋषभदेव भगवानको मुनिदशामें प्रथम छ महिनेका उपवास रहा तत्पश्चात् उन्हें आहारका विकल्प उत्पन्न होता परन्तु मुनियोग्य विधिपूर्वक आहार नहीं मिलता जिससे वे आहारका विकल्प तोड़कर अन्तर आनन्दमें लीन रहते थे। आनन्दमें रहना यही आत्माका कर्तव्य है। २१४.

*

धर्मात्माको अपना रत्नत्रयरूप आत्मा ही परम प्रिय

है, संसार सम्बन्धी अन्य कुछ प्रिय नहीं है। जैसे गायको अपने बछड़ेके प्रति व बालकको अपनी माताके प्रति कैसा प्रेम होता है! वैसे ही धर्मीको अपने रत्नत्रयस्वभावरूप मोक्षमार्गके प्रति अभेदबुद्धिपूर्वक परम वात्सल्य होता है। स्वयंको रत्नत्रयधर्ममें परम वात्सल्य होनेसे उन्हें अन्य रत्नत्रयधर्मधारक जीवोंके प्रति भी वात्सल्यभाव उल्लसित हुए विना नहीं रहता। २१६.

*

रागादिसे भिन्न चिदानन्दस्वभावका भान और अनुभव हुआ वहाँ धर्मीको उसका निःसंदेह ज्ञान होता है कि अहो! मुझे आत्माका कोई अपूर्व आनन्दका वेदन हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मामेंसे मिथ्यात्वका नाश हो गया। 'मैं समकिती हूँ या मिथ्यादृष्टि'—ऐसा संदेह जिसे है, वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है। २२०.

*

जो कोई आत्मा जड़कर्मकी अवस्थाको और शरीरादिकी अवस्थाको करता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मयबुद्धिपूर्वक परिणमन नहीं करता है परन्तु मात्र ज्ञाता है यानी कि तटस्थ रहता हुआ—साक्षीरूपसे ज्ञाता है, वह आत्मा ज्ञानी है। २२२.

*

जिसे रागका रस है—वह राग भले ही भगवानकी भक्तिका हो या तीर्थयात्राका हो—वह भगवान आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दरससे रिक्त है, रहित है और मिथ्यादृष्टि है। और जो चौथे गुणस्थानवर्ती समकिती है अर्थात् जिसने

निज रस — आत्माके आनन्द का रस — का आस्वादन किया है, वह निजरससे ही रागसे विरक्त है। धर्मीको असंख्य प्रकारके शुभ राग हो तो भी उसे रागका रस नहीं है। धर्मीको शुद्ध चैतन्यके अमृतमय स्वादके सामने रागका रस विष तुल्य भासता है। २३०.

*

धर्मी को पर-सन्मुख उपयोगके वक्त भी सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जितना वीतराग भाव हुआ है उतना धर्म तो सतत वर्तता ही है; उपयोग जब स्वमें रहे तभी धर्म रहे और जब उपयोग पर-सन्मुख हो तब धर्म रहे ही नहीं —ऐसा नहीं है। २३१.

*

जिस धर्मात्माने निज शुद्धात्मद्रव्यको स्वीकार करके परिणतिको स्व-अभिमुख किया वह प्रति क्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, वह मुक्तिपुरीका प्रवासी हो गया है। अब 'मेरे अनन्त संसार होगा?' — ऐसी शंका उसे उत्पन्न ही नहीं होती; उसे स्वभावके बलसे ऐसी निःशंकता है कि 'मेरी मुक्तदशा अब अल्प कालमें ही खिल उठेगी। २३५.

*

भरत चक्रवर्ती, रामचन्द्रजी, पांडव वगैरह धर्मात्मा संसारमें थे परन्तु उन्हें निरपेक्ष निज आत्मतत्त्वका भान था। धर्मात्मा यह भलीभाँति समझते हैं कि अन्यको सुखी-दुःखी करना, मारना-जिलाना वह आत्माके अधिकारमें नहीं है; तिसपर भी अस्थिरता शेष है, जिसके कारण लड़ाईमें जुड़ने वगैरहके पापभाव और अन्यको सुखी करने, जिलाने व भक्ति वगैरहके पुण्यभाव आते हैं। वे जानते हैं

कि ऐसे भाव पुरुषार्थकी शिथिलतावश आते हैं। उन्हें ऐसी भावनाका बल निरन्तर वर्तता है कि 'मैं स्वरूप लीनताका पुरुषार्थ करके, अवशिष्ट रागको टाल कर मोक्ष पर्याय प्रगट करूँगा।' २५५.

※

'आत्मा ही आनन्दका धाम है, उसमें अन्तर्मुख होने से ही सुख है'—ऐसी वाणीका रणकार जहाँ सुनाई पड़े वहाँ आत्मार्थी जीवका आत्मा अन्दरसे झनझना उठता है कि वाह! यह भवरहित वीतरागी पुरुषकी वाणी! आत्माके परम शान्तरसको दर्शानेवाली यह वाणी निःसंदेह अद्भुत है, अश्रुतपूर्व है। वीतरागी संतोंकी वाणी परम अमृत है। भवरोगको नाश करने वाली यह अमोघ औषध है। २५७.

※

वीतरागवाणीरूपी समुद्र मंथनसे जिसे शुद्ध चिद्रूप-रत्न प्राप्त हुआ है, वह मुमुक्षु चैतन्य प्राप्तिके परम उल्लासमें कहता है कि, अहो! मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न मिला, अब मुझे चैतन्य सिवाय अन्य कोई कार्य नहीं, अन्य कोई वाच्य नहीं, अन्य कोई ध्येय नहीं, अन्य कुछ श्रवणयोग्य नहीं, अन्य कुछ भी प्राप्त करने जैसा नहीं, अन्य कुछ श्रेय नहीं व अन्य कोई आदेय नहीं है। २६३.

※

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाईयोंके बीच युद्ध हुआ। सामान्य व्यक्तिको तो ऐसा लगे कि दोनों सम्यग्ज्ञानी, दोनों भाई और दोनों तद्भव मोक्षगामी... फिर यह क्या? परन्तु लड़ते वक्त भी उन्हें यह भान है कि मैं इन सबसे भिन्न हूँ। वे युद्धके ज्ञाता हैं; और जो क्रोध होता है उस

क्रोधके भी ज्ञाता हैं। उन्हें निज शुद्ध, पवित्र आनन्दघन-स्वभावका भान वर्तता है, परन्तु अस्थिरता है जिससे लड़ाईमें खडे हैं। भरत चक्रवर्ती जीत न सके तो अन्तमें उन्होंने बाहुबलीजीके ऊपर चक्र चला दिया। ऐसेमें बाहुबलीजीको वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्यको! अरे! इस जीवनमें राज्यके लिए यह क्या? वस्तुतः ज्ञानी पुण्यसे भी प्रसन्न नहीं होते और पुण्यके फलसे भी प्रसन्न नहीं होते। बाहुबलीजी विचारते हैं कि मैं चिदानन्द आत्मा, परसे भिन्न हूँ, इसे यह योग्य नहीं, यह शोभा नहीं देता! धिक्कार है इस राज्यको! ऐसे वैराग्य स्फुरित होनेसे उन्होंने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली।

बिल्ली जिस मुँहसे अपने बच्चेको पकड़े उसीसे वह चूहेको भी पकड़ती है परन्तु 'पकड़–पकड़में फर्क है,' वैसे ज्ञानी व अज्ञानीकी क्रिया एक समान दिखलाई पड़े परन्तु दोनोंके भावमें भिन्नता होती है। २६९.

*

मुनिको कर्मप्रक्रम नहीं होता — मुनि अपने जिम्मे कोई कार्य नहीं लेते। 'पाठशालाका ध्यान रखना पड़ेगा; रकम उगाहने हेतु तुमे जाना पड़ेगा; तीर्थहेतु रकम उगाहना पड़ेगा'। — ऐसे किसी भी कार्यको मुनि अपने जिम्मे लेते ही नहीं। मुनि किसी भी प्रकारकी जिम्मेदारी रखते ही नहीं हैं। २७२.

*

मुनिराजको चलते–फिरते, खाते–पीते चैतन्यपिण्ड जुदा पड़ जाता है और वे अतीन्द्रिय आनन्दामृतरसका वेदन करते हैं। उन्हें क्षणभर निंदका झोका आता है व क्षणभरमें

जग जाते हैं और जगनेपर अप्रमत्तध्यानमें आ जाते हैं, सहजरूपमें स्वरूप लीन हो जाते हैं। — इस प्रकारसे मुनिराज बारम्बार प्रमत्त–अप्रमत्तदशामें झूलते रहते हैं। मुनिराजकी ऐसी निद्रा होती है; वे सामान्य मनुष्यकी तरह घन्टों के घन्टों निद्रा में खर्राटे नहीं भरते। मुनिराज छट्ठे गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्तसे ज्यादा समय रहते ही नहीं हैं। मुनिराजको पिछली रात्रिमें क्षणभरके लिए निद्राका झोंका आ जाता है, इसके सिवाय उन्हें विशेष निंद्रा ही नहीं आती, उनकी ऐसी सहज दशा है। २८३.

*

स्वभावके मार्गसे सत्य आता है और अज्ञानके मार्गसे असत्य आता है। अज्ञानी चाहे जहाँ जाये या चाहे जहाँ मौजूद हो परन्तु 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' 'मैं इसकी तुलनामें विशेष हूँ,' 'मुझे इससे अधिक आता है' इत्यादि प्रकारके भाव उसे आये विना नहीं रहते। अज्ञानीमें साक्षीरूपसे रहनेकी क्षमता नहीं है।

ज्ञानीको चाहे जैसे भावमें, चाहे जैसे प्रसंगमें साक्षीरूपसे रहनेकी क्षमता है; वह सर्व प्रकारके भावोंके बीच साक्षीरूपसे रह सकता है। अज्ञानीको जहाँ हो वहाँ 'मैं' और 'मेरा किया होता है' ऐसा भाव आये विना नहीं रहता। ज्ञानी सर्वसे भिन्न हो चुका है और अज्ञानी सर्वसे चिपका हुआ है। २८५.

['*परमागमसार' में से उद्धृत रत्न]

आत्माको अविरत (चौथे) गुणस्थानमें ही प्रथम प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना अनिवार्य है, क्योंकि उसमें रागादिकी अपेक्षा नहीं रहती, इसीलिये उसे वीतराग अनुभूति कहते हैं। ४.

※

चौथे गुणस्थानमें विषय-कषायके परिणाम होनेपर भी सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते। और सम्यग्दर्शनके अभावमें अनन्तानुबन्धी आदि कषायकी मन्दता होनेपर भी मिथ्यात्वका पाप बन्ध करता है, क्योंकि उसे स्वभावका आश्रय नहीं होता है। किसी (सम्यग्दृष्टि) को (अप्रत्याख्यान) कषायकी बहुत तीव्रता होनेपर भी उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। किसीको बारह अंगका ज्ञान हो उससे सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो व किसीका क्षयोपशम अल्प हो तो सम्यग्दर्शनमें निर्मलता न्यून हो — ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनके परिणाम आत्माके आश्रयसे स्वतन्त्र प्रकट होते हैं। विषय-कषायके परिणाम सम्यग्दर्शनको बाधित नहीं करते परन्तु विशेष स्थिरता (निर्मलता) नहीं हो सकती है। ३६.

※

नय श्रुतज्ञान प्रमाणका अंश है। प्रमाणज्ञानको प्रामाणिकता तब और तो ही प्राप्त होती है कि जब अन्तरदृष्टिमें विभाव और पर्यायके भेदोंसे रहित शुद्धात्मद्रव्यरूप ध्रुवकी

---

* पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामीके विविध आगमों पर हुए प्रवचनोंमेंसे चुने हुए १००८ रत्नोंका संकलन।

श्रद्धाके अवलम्बनकी उग्रता निरन्तर वर्तती हो। ज्ञानीको ध्रुवस्वभावके अवलम्बनका बल सदैव वर्तता होनेसे उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है। ५१.

*

शुद्ध चैतन्यध्रुवके ध्यानसे जिसे सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे जीवको ऐसी पर्यायरूप योग्यताएँ होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है। परन्तु उन–उन धर्मोंके ज्ञानसे अथवा उनके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा नहीं है। ऐसे विविध धर्मोंके ज्ञान होनेपर साधकजीवको त्रिकाल चैतन्यमूर्तिध्रुवका—द्रव्यस्वभावका ही अवलम्बन होता है। ५२.

*

प्रश्न :— चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि भी भयभीत होता दिखता है और वह उसका उपाय भी करता है न?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि अन्तरमें तो निर्भय ही है; बाह्यमें भयप्रकृतिमें जुड़नेसे तनिक अस्थिरतारूप भय दिखता है तो भी अन्तरस्वरूपमें तो निर्भय ही है जिससे वह इहलोक–परलोक आदि सात प्रकारके भयोंसे रहित — निर्भय है। ६५.

*

सम्यग्दृष्टिने शुद्ध स्वरूपका अनुभव किया उसके पश्चात् (उसे ऐसी भावना रहती है कि) वह एक क्षणके लिए भी छोड़ने योग्य नहीं। परमात्माके पहलूमें आनेके बाद एक क्षण भी परमात्माका पहलू छोड़ने योग्य नहीं और पुण्य–पापके पहलूमें जाना योग्य नहीं। एक क्षण भी

शुद्धात्माको विस्मृत करना योग्य नहीं। राग-क्रिया कभी भी ग्रहण करने लायक नहीं और शुद्धात्मा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं। अरे! जिसे रागका रंग चढ़ गया है उसे परमात्माका रंग कैसे चढ़े? और जिसे परमात्माका रंग चढ़ा है उसे रागका रंग कैसे चढ़े? अभी सम्यग्दृष्टिको राग होता तो है परन्तु रागका रंग नहीं चढ़ता और शुद्धात्माका रंग एक समय मात्र भी नहीं उतरता। सम्यग्दृष्टिको अतीन्द्रिय सुखका अनुभव धाराप्रवाहरूपसे होता है, यही इसकी महत्ता है। ८१.

*

जैसे पुत्रमें पिताका प्रतिभास आता है वैसे ही मोक्षमार्गी मुनियोंमें वीतरागी जिनभगवानका प्रतिभास—वीतरागताका प्रतिभास झलकता है, मात्र शान्त...शान्त...वीतराग... अकषायभाव ही (तैरता) है।... ८५.

*

सम्यग्दृष्टिको राग या दुःख नहीं — ऐसा तो, दृष्टिकी प्रधानतासे कहा है। परन्तु पर्यायमें जितना आनन्द है उसे भी ज्ञान जानता है, और जितना राग है उतना दुःख भी साधकको है—ज्ञान वह भी जानता है। पर्यायमें राग है, दुःख है—उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणाज्ञानमें भी भूल है। सम्यग्दृष्टको दृष्टिका बल बतलानेके लिए कहा है कि उसे आस्रव नहीं; परन्तु जो आस्रव सर्वथा न हो तो मुक्ति होनी चाहिए। ८८.

*

स्वयंमें जो गुण न हों व अन्य कोई उस गुणको बतलाए या कहे कि तुम ऐसे गुणी हो, तब ज्ञानीको ऐसा

लगता है कि मुझमें यह गुण नहीं है और यह मुझमें ऐसा गुण बतलाता है तो वह, मुझ पर आरोप करता है। पर अज्ञानीकी, स्वयंमें गुण न होनेपर भी, ऐसी भावना रहा करती है कि 'मुझे कोई गुणी माने तो अच्छा'— यह उसका अज्ञान है। १०८.

*

निर्विकारी आनन्द सहित जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्दृष्टिका क्षयोपशमज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन एवम् *आत्म-अनुभवकी स्थितिरूप पर्यायमें संपूर्ण आत्मा नहीं आता,* परन्तु समस्त शक्तियाँ उस पर्यायमें एकदेश प्रकट होती हैं। तेरा आत्मा तुझे किस प्रकार जाननेमें आये?—कि, आनन्दकी अनुभूति सहित स्वसंवेदनज्ञानसे आत्मा जाननेमें आये—ऐसा है। जब अनन्त शक्तियाँ पर्यायमें एक अंश प्रकट होती हैं, तब आत्मा जाना जाता है। १२१.

*

आत्माको जाननेवाला ध्यातापुरुष—धर्मीजीव—जिसको स्वसंवेदन आनन्दानुभूति सहितका एक अंश ज्ञान प्रकट हुआ है—ऐसा ध्यानी–ज्ञानी, उस प्रकट दशाका ध्यान नहीं करता। अनुभवकी जो पर्याय है वह एकदेश प्रकट पर्यायरूप है, फिर भी ध्याता पुरुष—ध्येयका ध्यान करनेवाला पुरुष उस प्रकट पर्यायका ध्यान नहीं करता।

धर्मी किसका ध्यान करता है?— धर्मी जीवको सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रकट होनेपर भी वह उसका ध्यान नहीं करता, तो किसका ध्यान करता है?

— कि एक समयकी पर्यायके पीछे विराजमान सकल

निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध, पारिणामिकभावलक्षण निज परमात्मद्रव्यका ध्यान करता है।

सम्यग्दृष्टिका ध्येय क्या? सम्यग्दृष्टि धर्मीका विषय क्या? — कि त्रिकाली आत्मा, जो सकल निरावरण एक अखण्ड वस्तु ही इनका विषय है। १२२.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टिका उपयोग परमें हो — क्या वह तब भी स्वप्रकाशक है?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टिका उपयोग परमें हो तब भी (ज्ञान) स्वप्रकाशक है। परन्तु उपयोगरूप परप्रकाशक होनेके समय उपयोगरूप स्वप्रकाशक नहीं होता और उपयोगरूप स्वप्रकाशक हो तब उपयोगरूप परप्रकाशक नहीं होता। लेकिन ज्ञानका स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक ही है। १५८.

*

प्रश्न :— ज्ञानीको दुःखका ज्ञान होता है या वेदन होता है?

उत्तर :— ज्ञानीको दुःखका ज्ञान होता है और वेदन भी होता है। जैसे आनन्दका वेदन होता है वैसे ही जितना दुःख है उतना दुःखका वेदन भी है। १६४.

*

जो विकल्प उठते हैं उन्हें धर्मी जानता है, पर वह उन विकल्पों को करता नहीं है। विकल्प सम्बन्धी जो ज्ञान होता है उसका भी कर्ता विकल्प नहीं। राग होनेपर भी रागके कारण ज्ञानीको राग सम्बन्धी ज्ञान होता

है, ऐसा नहीं है। राग और ज्ञानीके ज्ञानमें ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है; राग उस ज्ञानका कर्ता नहीं है। १६६.

*

जब जीव आनन्द स्वभावका अनुभव करनेमें समर्थ हुआ तबसे समस्त जगतका साक्षी हो गया। पर वस्तु मेरी है — ऐसी दृष्टि छूटनेसे वह उसका साक्षी हुआ है। पर मेरा है और मैं उसका — ऐसी मान्यता छूट गई है और सकल पर द्रव्योंका जाणनशील हो गया है। अरे! परमात्मा हो तो भी मैं तो उसका जाननेवाला हूँ और स्त्री–पुत्रादि हों उनका भी मैं जाननेवाला हूँ, वे कोई मेरे नहीं। मेरा क्या है? — कि 'ज्ञान और आनन्दस्वरूप वह मैं हूँ,' इस प्रकार निज वस्तुका स्वयंके द्वारा अनुभव करता है और निज वस्तुसे भिन्न वस्तुओंका ज्ञाता रहता है। १७३.

*

साधक जीव पर द्रव्यरूप द्रव्यकर्म, पर द्रव्यरूप भावकर्म —दया–दान आदि भावकर्म और शरीरादिके प्रति उदासीन है; क्योंकि शुद्धस्वरूपका अनुभव होनेसे उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है। जबसे ध्रुवको ध्यानमें लेकर आत्म-अनुभव हुआ तबसे वह जीव पूर्णानन्द स्वरूपको उपादेय जाननेसे रागादिरूप उठनेवाले विकल्पोंके प्रति उदासीन है। १७४.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टिको शुभभाव आते हैं वह उनमें उसी समय उदासीन है कि शुभभावसे हटकर आत्मोन्मुख होनेपर उदासीन है?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टिको शुभभाव आते हैं वह उनमें उसी समय उदासीन है और उनसे हटकर आत्मोन्मुख होने पर तो वीतरागता ही है। अतः वह शुभभावके समय भी उदासीन है। १८६.

*

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन होनेके बाद वास्तवमें ऐसा खयाल आता है न कि विकारभाव दुःखरूप हैं?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही विकारका दुःख यथार्थरूपसे भासित होता है; परन्तु उसके पूर्व भी जिज्ञासुको इतना तो खयालमें आ जाता है कि पर-ओर झुकनेवाली वृत्तिमें आकुलता होती है, जिस कारण वह विकारसे हटकर स्वभावकी ओर ढलता है। १८७.

*

प्रश्नः—सम्यग्दर्शनका बहुत-बहुत महत्त्व बतलाया जाता है, इसका कारण क्या?

उत्तरः—सम्यग्दर्शनमें पूर्ण परमात्मा प्रतीतिमें आ जाता है—उसके महत्त्वका क्या कहना!! पूर्ण प्रभु प्रतीतिमें आ गया, फिर बाकी क्या रहा? १८९.

*

आत्म-अनुभवके विना सब कुछ शून्य है। लाख कषायकी मन्दता करो या लाख शास्त्र पढो, किन्तु अनुभव विना सब कुछ व्यर्थ है। यदि कुछ भी न सीखा हो, पर अनुभव किया हो तो उसने सब कुछ सीख लिया; उसे बात करना भले ही न आए तो भी वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। १९४.

*

राग होनेपर भी साधकके हृदयमें सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं। २०३.

*

जिनके जन्म-मरणकी गांठ (भेदित) नहीं हुई उन्होंने जीवनमें कुछ भी नहीं किया। और जिन्होंने गृहस्थाश्रममें भी जन्म-मरणरूपी ग्रन्थीको भेद दिया उन्होंने सब कुछ कर लिया, सिद्ध प्रभु तो उनके हाथ आ गये हैं। २०६.

*

जिन्होंने स्वयंके पर्यायअंशसे दृष्टि हटा कर द्रव्यपर दृष्टिकी वे अन्य द्रव्यको भी इसी प्रकार देखते हैं अर्थात् अन्य पदार्थोंको भी उनकी पर्यायसे नहीं देखते बल्कि उन्हें द्रव्यरूपसे ही—वस्तुरूपसे ही—अखण्ड देखते हैं। २०९.

*

दृष्टि स्वभावरूप परिणत हुई की हुई, फिर उसका स्मरण क्या करना? रुचिका तो परिणमन हुआ सो हुआ, वह तो सदा ही रहनेवाला है। 'मैं निःशंक हूँ' इस भावका स्मरण नहीं करना पड़ता। (उपयोग) शुभाशुभमें हो या आत्म-अनुभवमें, (दृष्टिका) सम्यक् परिणमन तो जैसा है वैसा ही रहता है। २१२.

*

धर्मीका चित्त आत्माके सिवा अन्य कहीं नहीं रमता। वे संसारमें सब कुछ ऊपरी नजरसे ही देखते हैं, पर उनका चित्त तो कहीं भी रमता नहीं। मक्खीका चित्त शक्करके

स्वादमें इतना आसक्त रहता है कि पंखोंपर दबाव होनेपर भी वह वहाँसे हटती नहीं। वैसे ही धर्मीका चित्त आत्मामें रमा रहता है। प्रतिकूलता आने पर भी — बाहरी दबाव आने पर भी, आत्मासे उनका चित्त हटता नहीं। दुनियाको भले ही धर्मी मूर्ख लगे — पागल लगे। २२१.

*

क्या पुण्य-परिणामरूपी कार्य सर्वज्ञको सौंपा जाय? — चक्रवर्तीको आँगन बुहारनेका काम नहीं सौंपा जाता। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है — जिसको ऐसा भान हुआ, उसे पुण्यके कार्यमें कर्ताबुद्धि नहीं होती। २२३.

*

सम्यक्त्वीकी पूरी दुनियासे रुचि उड़ गई है, उसे एक आत्मामें ही रुचि है। वह एक आत्माको ही विश्राम-स्थल मानता है। एक आत्माकी ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है। २२४.

*

अन्य जीवकी निन्दा करनेका भाव तो आस्रव है। और कागजमें हुई शब्द रचना पुद्गलकी पर्याय है; इनमें लिखनेवाला जीव कहीं भी सम्बद्ध नहीं है। और स्वयंको अस्थिरतासे उठनेवाले विकल्प भी आत्मामें कहाँ हैं, ये भी आस्रव हैं। — इस प्रकार ज्ञानी, सामने चाहे जैसा विरोधी जीव हो — उसे भी पूर्ण आत्मरूपमें ही देखते हैं, यही वीतरागी समता है। ऐसे ज्ञान विना सहज समता होना संभव ही नहीं। २३७.

*

हे भगवान ! आपने जो चैतन्यभण्डार खोल दिया है—उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे ? आहा ! अन्तर-अवलोकनमें तो अमृतरस झरता है; और बाह्य अवलोकनमें तो विष-सा अनुभव होता है। २४४.

*

भगवानकी देशना होती है—पर उससे शासनका क्या होता है व किसको लाभ होता है, इस ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको भी विकल्प उठते हैं और वाणी निकलती है, पर वे यह नहीं देखते कि किसको लाभ हुआ, कितना लाभ हुआ ?—वे तो निजात्माको ही देखते हैं। २५३.

*

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अति सूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बीचकी सन्धिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। खयालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यग्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुन कर विचार करें; और पीछे प्रयत्न करें।—२५८.

*

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने जिस आत्माको ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुवस्वभावमेंसे शुद्धता

प्रकट होती है। उसको आत्मा शुद्धरूपसे उल्लसित हुई—ऐसा कहनेमें आता है। जैसे अनादि अज्ञानवश 'पुण्य–पाप भावरूप मैं हूँ' ऐसे मिथ्यात्वका अनुभव, दुःखका अनुभव है; वैसे ही ज्ञानीको अतीन्द्रिय आनन्दअमृतका भोजन है। २७१.

*

प्रश्न :—ज्ञानीकी प्ररूपणामें असत्की प्ररूपणा होती है?

उत्तर :— नहीं; ज्ञानीकी वाणीमें असत्की प्ररूपणा नहीं होती। ज्ञानीको अस्थिरता होती है, पर प्ररूपणामें असत् कथन नहीं आता। 'व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है; रागसे लाभ होता है अथवा रागसे धर्म होता है; एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य करता है'—ऐसी प्ररूपणाको असत् प्ररूपणा कहते हैं। २७२.

*

प्रश्न :— अभेदस्वरूप आत्माकी अनुभूति होनेके बाद व्रतादि करनेसे क्या लाभ है?

उत्तर :– शुद्धात्माका अनुभव होनेके पश्चात् पाँचवें और छठे गुणस्थानमें उस–उस प्रकारके शुभराग आए विना नहीं रहते। वे शुभराग बन्धके कारण हैं और हेय हैं—ज्ञानी ऐसा जानते हैं। शुद्धताकी वृद्धि-अनुसार कषाय घटते जानेसे व्रतादिके शुभराग आए विना रहते ही नहीं—ऐसा ही स्वभाव है। २७६.

*

प्रश्न :— द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है या अशुभमें भी है?

उत्तर — द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है । २७९.

*

प्रश्न :— काया और कषायमें एकत्व है — क्या द्रव्यलिंगीको इसका खयाल आता है ?

उत्तर :— उसे खयाल नहीं आता ।

प्रश्न :— तो उसे धारणाज्ञान भी सही नहीं हुआ ?

उत्तर :— तत्त्वकी जानकारीका धारणाज्ञान तो उसे सही है, पर स्वयं कहाँ अटका है — यह उसके ज्ञानमें नहीं आता; वह (अपनी) कषायकी अतीव मंदताको स्वानुभव मानता है । २८०.

*

'काल नयकी अपेक्षा जिनकी सिद्धि समय पर आधारित है' अर्थात् सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्र–केवलज्ञान आदि जिस समय प्रकट होनेवाले हैं, उसी समय प्रकट होते हैं । 'जिस समय जो होना है, उसी समय वह होता है' परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ बिना हो जाता है ।

काल नयसे ज्ञान करनेवाले साधककी दृष्टि काल ऊपर नहीं, वरन् स्वभाव पर होती है । अतः वे काल नयसे जानते हैं कि जिस समय चारित्र प्रकट होना है उसी समय प्रकट होगा, जिस काल केवलज्ञान होना है उसी समय प्रकट होगा ।

किसी मुनिको लाखों वर्षों तक चारित्र पालन करने पर भी केवलज्ञान प्रकट होने में समय लगता है । किसी मुनिको अल्प कालमें ही केवलज्ञान हो जाता है । अतः दीर्घ काल तक चारित्र पालन करनेवाले मुनिको अधीरता नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि केवलज्ञान होगा ही,

सो अपने स्वकालमें ही प्रकट होगा। २८२.

*

सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि 'शुद्ध निश्चय नयसे मैं मोह–राग–द्वेष रहित हूँ,' इससे सम्यग्दृष्टिको कोई ऐसा नहीं लगता कि शुभ और अशुभ दोनों समान हैं अतः अशुभ भले ही हों। सम्यग्दृष्टि अशुभसे छूटने हेतु वांचन, श्रवण, विचार, भक्ति आदि करता है। प्रयत्न करके भी अशुभको छोड़कर शुभमें प्रवृत्त हो — शास्त्रमें भी ऐसा उपदेश है। परमार्थदृष्टिसे शुभ और अशुभ समान हैं, फिर भी स्वयंकी भूमिकानुसार अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्त होनेका विवेक रहता है और वैसे ही विकल्प भी आते हैं। २८९.

*

सन्त कहते हैं कि हम हमारे स्वघरमें आए हैं। अब हम अनुकूलतामें बर्फकी तरह गलनेवाले नहीं और प्रतिकूलताकी अग्निमें जलनेवाले नहीं। हमारा ज्ञान-विलास प्रकट हुआ है उसमें हम सोये सो सोये, अब हमें उठानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। २९६.

*

अहो! सम्यग्दृष्टि जीवको छः छः खण्डके राज्यमें संलग्न होनेपर भी, ज्ञानमें तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं; और छियानवे हजार अप्सरा जैसी रानियोंके वृन्दमें रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती। अरे! कोई नरककी भीषण वेदनामें पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनकी अधिकता नहीं छूटती है। इस सम्यग्दर्शनका क्या माहात्म्य है — जगतके लिए

राग होनेपर भी साधकके हृदयमें सिद्ध भगवान टंकोत्कीर्ण रहते हैं। २०३.

*

जिनके जन्म-मरणकी गांठ (भेदित) नहीं हुई उन्होंने जीवनमें कुछ भी नहीं किया। और जिन्होंने गृहस्थाश्रममें भी जन्म-मरणरूपी ग्रन्थीको भेद दिया उन्होंने सब कुछ कर लिया, सिद्ध प्रभु तो उनके हाथ आ गये हैं। २०६.

*

जिन्होंने स्वयंके पर्यायअंशसे दृष्टि हटा कर द्रव्यपर दृष्टिकी वे अन्य द्रव्यको भी इसी प्रकार देखते हैं अर्थात् अन्य पदार्थोंको भी उनकी पर्यायसे नहीं देखते बल्कि उन्हें द्रव्यरूपसे ही — वस्तुरूपसे ही—अखण्ड देखते हैं। २०९.

*

दृष्टि स्वभावरूप परिणत हुई की हुई, फिर उसका स्मरण क्या करना? रुचिका तो परिणमन हुआ सो हुआ, वह तो सदा ही रहनेवाला है। 'मैं निःशंक हूँ' इस भावका स्मरण नहीं करना पड़ता। (उपयोग) शुभाशुभमें हो या आत्म-अनुभवमें, (दृष्टिका) सम्यक् परिणमन तो जैसा है वैसा ही रहता है। २१२.

*

धर्मीका चित्त आत्माके सिवा अन्य कहीं नहीं रमता। वे संसारमें सब कुछ ऊपरी नजरसे ही देखते हैं, पर उनका चित्त तो कहीं भी रमता नहीं। मक्खीका चित्त शक्करके

स्वादमें इतना आसक्त रहता है कि पंखोंपर दबाव होनेपर भी वह वहाँसे हटती नहीं। वैसे ही धर्मीका चित्त आत्मामें रमा रहता है। प्रतिकूलता आने पर भी—बाहरी दबाव आने पर भी, आत्मासे उनका चित्त हटता नहीं। दुनियाको भले ही धर्मी मूर्ख लगे—पागल लगे। २२१.

*

क्या पुण्य-परिणामरूपी कार्य सर्वज्ञको सौंपा जाय?—चक्रवर्तीको आँगन बुहारनेका काम नहीं सौंपा जाता। आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है—जिसको ऐसा भान हुआ, उसे पुण्यके कार्यमें कर्ताबुद्धि नहीं होती। २२३.

*

सम्यक्त्वीकी पूरी दुनियासे रुचि उड़ गई है, उसे एक आत्मामें ही रुचि है। वह एक आत्माको ही विश्राम-स्थल मानता है। एक आत्माकी ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है। २२४.

*

अन्य जीवकी निन्दा करनेका भाव तो आस्रव है। और कागजमें हुई शब्द रचना पुद्‌गलकी पर्याय है, इनमें लिखनेवाला जीव कहीं भी सम्बद्ध नहीं है। और स्वयंको अस्थिरतासे उठनेवाले विकल्प भी आत्मामें कहाँ हैं, ये भी आस्रव हैं।—इस प्रकार ज्ञानी, सामने चाहे जैसा विरोधी जीव हो—उसे भी पूर्ण आत्मरूपमें ही देखते हैं, यही वीतरागी समता है। ऐसे ज्ञान बिना सहज समता होना संभव ही नहीं। २३७.

*

हे भगवान! आपने जो चैतन्यभण्डार खोल दिया है — उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्तीका वैभव भी तृणवत् न लगे? आहा! अन्तर-अवलोकनमें तो अमृतरस झरता है; और बाह्य अवलोकनमें तो विष-सा अनुभव होता है। २४४.

*

भगवानकी देशना होती है — पर उससे शासनका क्या होता है व किसको लाभ होता है, इस ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको भी विकल्प उठते हैं और वाणी निकलती है, पर वे यह नहीं देखते कि किसको लाभ हुआ, कितना लाभ हुआ? — वे तो निजात्माको ही देखते हैं। २५३.

*

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अति सूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बीचकी सन्धिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। खयालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यग्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुन कर विचार करें; और पीछे प्रयत्न करें। २५८.

*

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने जिस आत्माको ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुवस्वभावमेंसे शुद्धता

प्रकट होती है। उसको आत्मा शुद्धरूपसे उल्लसित हुई—ऐसा कहनेमें आता है। जैसे अनादि अज्ञानवश 'पुण्य–पाप भावरूप मैं हूँ' ऐसे मिथ्यात्वका अनुभव, दुःखका अनुभव है; वैसे ही ज्ञानीको अतीन्द्रिय आनन्दअमृतका भोजन है। २७१.

*

प्रश्न :—ज्ञानीकी प्ररूपणामें असत्की प्ररूपणा होती है ?

उत्तर :—नहीं; ज्ञानीकी वाणीमें असत्की प्ररूपणा नहीं होती। ज्ञानीको अस्थिरता होती है, पर प्ररूपणामें असत् कथन नहीं आता। 'व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है; रागसे लाभ होता है अथवा रागसे धर्म होता है; एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य करता है'—ऐसी प्ररूपणाको असत् प्ररूपणा कहते हैं। २७२.

*

प्रश्न :—अभेदस्वरूप आत्माकी अनुभूति होनेके बाद व्रतादि करनेसे क्या लाभ है ?

उत्तर :—शुद्धात्माका अनुभव होनेके पश्चात् पाँचवें और छठे गुणस्थानमें उस–उस प्रकारके शुभराग आए बिना नहीं रहते। वे शुभराग बन्धके कारण हैं और हेय हैं—ज्ञानी ऐसा जानते हैं। शुद्धताकी वृद्धि-अनुसार कषाय घटते जानेसे व्रतादिके शुभराग आए बिना रहते ही नहीं—ऐसा ही स्वभाव है। २७६.

*

प्रश्न :—द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है या अशुभमें भी है ?

उत्तर — द्रव्यलिंगीको शुभमें रुचि है। २७९.

*

प्रश्न :— काया और कषायमें एकत्व है — क्या द्रव्यलिंगीको इसका खयाल आता है?

उत्तर :— उसे खयाल नहीं आता।

प्रश्न :— तो उसे धारणाज्ञान भी सही नहीं हुआ?

उत्तर :— तत्त्वकी जानकारीका धारणाज्ञान तो उसे सही है, पर स्वयं कहाँ अटका है — यह उसके ज्ञानमें नहीं आता; वह (अपनी) कषायकी अतीव मंदताको स्वानुभव मानता है। २८०.

*

'काल नयकी अपेक्षा जिनकी सिद्धि समय पर आधारित है' अर्थात् सम्यग्दर्शन–सम्यक्चारित्र–केवलज्ञान आदि जिस समय प्रकट होनेवाले हैं, उसी समय प्रकट होते हैं। 'जिस समय जो होना है, उसी समय वह होता है' परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पुरुषार्थ बिना हो जाता है।

काल नयसे ज्ञान करनेवाले साधककी दृष्टि काल ऊपर नहीं, वरन् स्वभाव पर होती है। अतः वे काल नयसे जानते हैं कि जिस समय चारित्र प्रकट होना है उसी समय प्रकट होगा, जिस काल केवलज्ञान होना है उसी समय प्रकट होगा।

किसी मुनिको लाखों वर्षों तक चारित्र पालन करने पर भी केवलज्ञान प्रकट होने में समय लगता है। किसी मुनिको अल्प कालमें ही केवलज्ञान हो जाता है। अतः दीर्घ काल तक चारित्र पालन करनेवाले मुनिको अधीरता नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि केवलज्ञान होगा ही,

सो अपने स्वकालमें ही प्रकट होगा। २८२.

※

सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि 'शुद्ध निश्चय नयसे मैं मोह–राग–द्वेष रहित हूँ,' इससे सम्यग्दृष्टिको कोई ऐसा नहीं लगता कि शुभ और अशुभ दोनों समान हैं अतः अशुभ भले ही हों। सम्यग्दृष्टि अशुभसे छूटने हेतु वांचन, श्रवण, विचार, भक्ति आदि करता है। प्रयत्न करके भी अशुभको छोड़कर शुभमें प्रवृत्त हो — शास्त्रमें भी ऐसा उपदेश है। परमार्थदृष्टिसे शुभ और अशुभ समान हैं, फिर भी स्वयंकी भूमिकानुसार अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवृत्त होनेका विवेक रहता है और वैसे ही विकल्प भी आते हैं। २८९.

※

सन्त कहते हैं कि हम हमारे स्वघरमें आए हैं। अब हम अनुकूलतामें बर्फकी तरह गलनेवाले नहीं और प्रतिकूलताकी अग्निमें जलनेवाले नहीं। हमारा ज्ञान-विलास प्रकट हुआ है उसमें हम सोये सो सोये, अब हमें उठानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। २९६.

※

अहो! सम्यग्दृष्टि जीवको छः छः खण्डके राज्यमें संलग्न होनेपर भी, ज्ञानमें तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं; और छियानवे हजार अप्सरा जैसी रानियोंके वृन्दमें रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती। अरे! कोई नरककी भीषण वेदनामें पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनकी अधिकता नहीं छूटती है। इस सम्यग्दर्शनका क्या माहात्म्य है — जगतके लिए

इस मर्मको बाह्य दृष्टिसे समझना बहुत कठिन है। २९९.

*

जिसके ज्ञानमें तीन काल और तीन लोकको जाननेवाले भगवान बैठे हों उसके भव होता ही नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान सर्वज्ञस्वभावमें ढला है। ३२२.

*

भगवान जिसके हृदयमें विराजते हैं, उसका चैतन्य शरीर राग-द्वेषरूपी जंगसे रहित हो जाता है। ३२५.

*

जैसे खीरके स्वादके आगे लाल ज्वारकी रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने 'प्रभु आनन्दस्वरूप है' ऐसा स्वाद लिया है, उन्हें जगतकी किसी भी वस्तुमें रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती। निज स्वभावके सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभीका रस टूट जाता है। ध्यानमें बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनन्दका रस आता है—इतना अवकाश रखकर रागमें—बाहरमें आते हैं। ३५५.

*

जब यह आत्मा स्वयं रागसे भिन्न होकर अपनेमें एकाग्र होता है तब केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान-ज्योति उदित होती है। और दर्शन-ज्ञानमय स्वभावमें अस्तित्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसमें एकत्वगतरूपसे वर्तित हो, तभी वह आत्मा स्व समयमें प्रतिष्ठित हुआ—अतः उसे आत्मा कहा। ३५६.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टिको उपयोगमें शुद्ध आत्माका विचार चलता है, वही शुद्ध उपयोग है न?

उत्तर :— नहीं। शुद्ध आत्माका विचार चले वह शुद्ध उपयोग नहीं है; यह तो राग मिश्रित विचार है। शुद्ध आत्मामें एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो — वह शुद्ध उपयोग है। जिसमें ज्ञेय–ज्ञान–ज्ञाताका भेद छूट कर केवल अभेदरूप 'चैतन्य-गोला' अनुभवमें आता है — वह शुद्ध उपयोग है। ३६०.

*

स्वरूपकी लीला जात्यान्तर है। मुनिकी दशा अलौकिक जात्यान्तर है। मुनिराज स्वरूप-उपवनमें लीला करते–करते, याने कि स्वरूप-उपवनमें रमते–रमते कर्मोंका नाश करते हैं। दुःखी होते नहीं पर 'स्वरूपमें रमते–रमते' कर्मोंका नाश करते हैं — ऐसी उनकी जात्यान्तर दशा है — लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूपमें ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तरकी आनन्द-क्रिड़ामें रमने लगे उनकी लीला जात्यान्तर है।

अरे! सम्यग्दृष्टिकी लीला भी जात्यान्तर है। कोई सम्यग्दृष्टि युद्धमें हों, वे वहाँसे घर लौट कर ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं। अरे! कभी तो लड़ाईके प्रसंगमें हों तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। अरे! संसारके अशुभ-भावोंमें पड़े हों तो वहाँसे भी खिसक कर दूसरे क्षण ही ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्पता हो जाती है। 'यह वस्तु अन्तरमें मौजूद है' उसके माहात्म्यके जोरसे निर्विकल्पता हो जाती है। आहा हा!

इस मर्मको बाह्य दृष्टिसे समझना बहुत कठिन है। २९९.

*

जिसके ज्ञानमें तीन काल और तीन लोकको जाननेवाले भगवान बैठे हों उसके भव होता ही नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान सर्वज्ञस्वभावमें ढला है। ३२२.

*

भगवान जिसके हृदयमें विराजते हैं, उसका चैतन्य शरीर राग-द्वेषरूपी जंगसे रहित हो जाता है। ३२५.

*

जैसे खीरके स्वादके आगे लाल ज्वारकी रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने 'प्रभु आनन्दस्वरूप है' ऐसा स्वाद लिया है, उन्हें जगतकी किसी भी वस्तुमें रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती। निज स्वभावके सिवाय जितने विकल्प और बाह्य ज्ञेय हैं उन सभीका रस टूट जाता है। ध्यानमें बैठते हैं तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एक होनेसे आनन्दका रस आता है— इतना अवकाश रखकर रागमें — बाहरमें आते हैं। ३५५.

*

जब यह आत्मा स्वयं रागसे भिन्न होकर अपनेमें एकाग्र होता है तब केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान-ज्योति उदित होती है। और दर्शन-ज्ञानमय स्वभावमें अस्तित्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसमें एकत्वगतरूपसे वर्तित हो तभी वह आत्मा स्व समयमें प्रतिष्ठित हुआ — अतः उसे आत्मा कहा। ३५६.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टिको उपयोगमें शुद्ध आत्माका विचार चलता है, वही शुद्ध उपयोग है न ?

उत्तर :— नहीं। शुद्ध आत्माका विचार चले वह शुद्ध उपयोग नहीं है; यह तो राग मिश्रित विचार है। शुद्ध आत्मामें एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो — वह शुद्ध उपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाताका भेद छूट कर केवल अभेदरूप 'चैतन्य-गोला' अनुभवमें आता है — वह शुद्ध उपयोग है। ३६०.

*

स्वरूपकी लीला जात्यान्तर है। मुनिकी दशा अलौकिक जात्यान्तर है। मुनिराज स्वरूप-उपवनमें लीला करते-करते, याने कि स्वरूप-उपवनमें रमते-रमते कर्मोंका नाश करते हैं। दुःखी होते नहीं पर 'स्वरूपमें रमते-रमते' कर्मोंका नाश करते हैं — ऐसी उनकी जात्यान्तर दशा है — लीला है। स्वरूप ही उनका आसन है, स्वरूप ही उनकी बैठक है, स्वरूप ही उनका आहार है, स्वरूपमें ही उनका विचरण है, स्वरूप ही उनकी लीला है। जो अन्तरकी आनन्द-क्रिड़ामें रमने लगे उनकी लीला जात्यान्तर है।

अरे! सम्यग्दृष्टिकी लीला भी जात्यान्तर है। कोई सम्यग्दृष्टि युद्धमें हों, वे वहाँसे घर लौट कर ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्प आनन्दका अनुभव करते हैं। अरे! कभी तो लड़ाईके प्रसंगमें हों तो भी समय मिलते ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। अरे! संसारके अशुभ-भावोंमें पड़े हों तो वहाँसे भी खिसक कर दूसरे क्षण ही ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्पता हो जाती है। 'यह वस्तु अन्तरमें मौजूद है' उसके माहात्म्यके जोरसे निर्विकल्पता हो जाती है। आहा हा!

जिसे रागसे भिन्नता हुई, स्वरूपसे एकता हुई, आनन्दके खजानेके ताले खुल गये हैं, वह अशुभभावके प्रसंगमेंसे खिसक कर ध्यानमें निर्विकल्प आनन्दमें मग्न हो जाता है। — यह सब चमत्कार पूर्णानन्दके नाथको जाननेका है, सम्यग्दर्शनमें पूर्णानन्दके नाथके प्रकट होनेका है। सम्यग्दर्शनमें पूर्णानन्दका सम्पूर्णतः कब्जा हो जाता है, यह उसकी जात्यान्तर लीला है।

अरे! कोई जीव तो निगोदमेंसे निकलकर आठ वर्षकी आयुमें सम्यग्दर्शन पा, तुरन्त मुनि हो, स्वरूपमें एकाग्र होते ही अन्तर मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अन्तर मुहूर्तमें देह छूटते ही सिद्ध हो जाते हैं।

आहा हा! स्वरूपकी जात्यान्तर लीला तो कोई अद्भुत है। परन्तु सम्यग्दर्शन विना व्रत करे, तप करे, घर-बार छोड़कर मुनि हो जाये तो भी, इसकी लीला जात्यान्तर नहीं होती; संसारकी लीला थी और वही की वही रहती है। ३६३.

*

जिन्हें आत्माके स्वरूपकी रुचि हुई है उन्हें शुभराग आते हैं, परन्तु उन्हें रागसे विरक्तिरूप वैराग्य होता है और आत्माकी अस्ति-ओरका शान्त उपशमरस होता है। राग होने पर भी रागसे आंशिकरूपसे पृथक् रहता है — इतना उपशमरस है। जिन्हें आत्माकी सच्ची रुचि नहीं उनके शुभभाव शुष्क और चंचल होते हैं। जिन्हें निज स्वभावका आश्चर्य और महिमा न आये व अन्य पदार्थोंका आश्चर्य

और महिमा आये उनके शुभभाव रूक्ष और चंचलतावाले होते हैं । ३७६.

*

ज्ञायकस्वभावका जहाँ अन्तरमें भान हुआ, जाननेवाला जग उठा कि 'मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसा जब अनुभवमें आया तब, ज्ञान-धाराको कोई नहीं रोक सकता। चाहे जैसा रोग हो, पर वह तो शरीरमें है; वह आत्मामें कहाँ है? रोग है उसे आत्माने जाना है, परन्तु आत्माने उसमें मिलकर नहीं जाना है । ३८७.

*

सम्यग्दृष्टिको तो बाहरके विकल्पोंमें आना रुचता ही नहीं । यहाँ तो विशेष दशावालोंकी बात ली है कि महा ज्ञानी अन्तरमें जम गये हैं । अहो! वह धन्य दिवस कब आये कि मुझे बाहर आना ही न पड़े—ज्ञानीकी ऐसी भावना होती है । समकितीको ऐसी दशाकी भावना होती है; पर मैं दुनियाको समझाऊँ आदि भावना नहीं होती । ४०६.

*

स्त्री–पुत्र–पैसा–आबरु आदिमें या रागकी मन्दतामें सुख है—जो ऐसा मानते हैं, उन्होंने जीवको मार डाला है; क्योंकि उनका अभिप्राय ऐसा है कि मैं आनन्दस्वरूप नहीं, परन्तु मुझे मेरा आनन्द बाहरसे मिलता है। चैतन्य-परिणतिसे जीना वही जीवका जीवन है; अन्य सब तो चलते मुर्दे हैं । पामर! पर वस्तुमें दृष्टि लम्बाकर सुख मानते हैं, परन्तु 'प्रभु तू दुःखी है'। जहाँ आनन्दका धाम —आनन्दका ढेर है उसे जिसने प्रतीति और ज्ञानमें लिया

उसे ज्ञान और आनन्दरूप परिणति होती है — यही वास्तविक जीवन है। ४०७.

*

जो निर्मल भावका पिण्ड है, ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती। जि दया-दान आदिके रागकी व अनुकूल फलकी महिमा है उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरूप आत्माकी महिमा नहीं आती। जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभरागकी, देव-शास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है उनको — निमित्तका जिसमें अभाव है रागका जिसमें अभाव है — ऐसे स्वभाव-भावकी महिमा नहीं है, जिससे उन्हें पर्यायमें आनन्द नहीं आता। जिनको शुभभावसे लेकर, बाहरमें कुछ भी अधिकता, आश्चर्यता और महिमा (लगती) है — उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता। ४२५.

*

शुभराग होना — यह कोई विशेपता नहीं। क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ भाव हुआ ही करते हैं। अरे! निगोदके जीवको भी, जो अनादिसे बाहर आया ही नहीं और अनन्त काल तक भी बाहर नहीं आयेगा, क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ राग आया करते हैं — यह कोई विशेप बात नहीं। धर्मीको ज्ञानधारा प्रति क्षण चला करती है। इस ज्ञानधाराका चलना — यही विशेष बात है। इस ज्ञानधारासे ही संसार-भ्रमणसे छुटकारा मिलता है ४२९.

*

प्रश्न :— निश्चय (शुद्ध परिणमन)के साथ जो उचित

(भूमिका अनुसारका) राग वर्तता है, उसे क्रोध कहा जाए क्या ?

उत्तर :— नहीं। यहाँ 'समयसार' गाथा ६९–७०–७१ में कहा है कि, जिसे आत्मस्वभावकी रुचि नहीं — अनादर है, उसके रागभावको क्रोध कहा है याने कि मिथ्यात्व सहितके रागादि भावको क्रोध बतलाया है। ज्ञानीको अपनी अस्थिरतारूप रागका ज्ञान होता है। ज्ञानके परिणमनवाले ज्ञानीको आनन्दरूप आत्मा रुचता है, आत्माका एहसास होता है, अतः उसके रागकी रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं — जिससे क्रोध (स्व-रूप) मालूम नहीं होता।

अज्ञानीको दुःखरूपभाव—रागभाव रुचता है, आनन्दरूपभाव नहीं रुचता — जिससे उसे क्रोधादि ही मालूम होते हैं, आत्माका एहसास नहीं होता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है उसकी जिसे रुचि नहीं व पुण्यके परिणामकी रुचि है — उसे आत्माका अनादर है — जिससे उसे स्वरूपप्रतिका क्रोधी कहा है। ४३१.

*

" आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है "— ऐसा जिसके ज्ञानमें आया, वह ज्ञानी जीव जीवनमें स्थिर हो जाता है — यह प्रत्याख्यान है। जहाँ ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हुआ वहाँ विशेष आनन्दकी धारा बहती है — यही प्रत्याख्यान है। स्वयंके ज्ञानमें रागकी अभावरूप अवस्था अर्थात् उग्र आनन्दकी अवस्था ही प्रत्याख्यान है। ४३५.

*

देहकी स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्मकी स्थिति भी मर्यादित है और विकारकी स्थिति भी मर्यादित है। स्वयंकी

पर्यायमें जो कार्य होता है वह भी मर्यादित है। अन्तरमें याने कि स्वभावमें मर्यादा नहीं होती। प्रभु! वस्तु-स्वभाव ज्ञान-स्वभाव आदि त्रिकाली स्वभावकी मर्यादा ही नहीं। धर्मीकी दृष्टि उस अमर्यादित स्वभाव पर होती है। धर्मी बाह्य कार्यमें संलग्न दिखता है पर (वास्तवमें) वह तो अमर्यादित स्वभावमें झूलता है; उसकी दृष्टि वहाँ जम जाती है। ४४१.

*

सम्यग्दृष्टि तो जीव–अजीव–आस्रव–बन्ध आदिके स्वांगोंको देखनेवाले हैं। रागादि आस्रव–बन्धके परिणाम होते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन स्वांगोंके देखनेवाले ज्ञाता–दृष्टा हैं, कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि इन स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शान्तरसमें ही मग्न रहते हैं। शुभाशुभभाव आते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें कर्मकृत स्वांग जानकर उनमें मग्न नहीं होते। मिथ्यादृष्टि, जीव–अजीवके भेदको नहीं जानते जिससे वे कर्मकृत स्वांगोंको ही सत्य (निजरूप) जानकर उनमें मग्न हो जाते हैं; रागादि भावोंको कर्मकृत भाव होनेपर भी अपने भाव जानकर, उनमें लीन हो जाते हैं। धर्मी जीव, ऐसे अज्ञानी जीवोंको आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, भेदज्ञान करा कर, शान्तरसमें लीन कर — सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। । ४४८.

*

ज्ञायक ध्रुव शुद्ध तत्त्व — उसका ज्ञान कर, उसकी प्रतीति कर, उसमें रमण कर, एक आत्माराम होकर क्या अनुभव करता है? सो कहते हैं — सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपको जानकर, उसकी प्रतीति कर, स्वरूपाचरण कर, ऐसा

अनुभव करता है कि "मैं तो चैतन्य मात्र ज्योति हूँ," "शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयं ज्योति, सुख-धाम, मैं हूँ"। "चैतन्य ज्ञान-दर्शन मात्र ज्योति हूँ, मैं रागादिरूप बिल्कुल नहीं हूँ"। धर्मी स्वयंको चैतन्य मात्र-ज्योतिरूप आत्मा मानते हैं, अपनेको रागरूप नहीं मानते। ४५३.

*

ज्ञानी उसे कहें कि जो त्रिकाली-ज्ञायकको पकड़े व उसकी पर्यायमें वीतरागता प्रकट होनेपर भी पर्यायमें रुकना नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली-ध्रुवपर ही टिकी है। धर्मदशा प्रकट हो — निर्मलपर्याय प्रकट हो परन्तु ज्ञानी इन पर्यायोंमें नहीं रुकता। ४५४.

*

त्रिकाली-ध्रुव आत्मद्रव्यको पकड़ने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, उसे पकड़ने पर ही चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान होता है। धर्मीकी दृष्टि आत्मद्रव्य परसे नहीं खिसकती। और जो यह दृष्टि वहांसे खिसक कर वर्तमान पर्यायमें रुके, एक समयकी पर्यायमें चोंटे, पर्यायकी रुचि हो जाए — तो वस्तुकी दृष्टि छूट जाए और वह मिथ्यादृष्टि हो जाए। जो एक समयकी पर्यायकी महिमा-महत्ता लगे तो द्रव्य परसे दृष्टि खिसक जाती है। एक समयकी निर्मल पर्यायकी भी रुचि हो जाए तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ४५५.

*

प्रश्न :— शुभरागको ज्ञानी हेय मानते हैं, पर षोडश-कारणभावना तो भाते हैं न?

उत्तर :— ज्ञानी षोड़शकारण भावना नहीं भाते परन्तु उस प्रकारका राग आ जाता है। ज्ञानीकी भावना तो स्वरूपमें स्थिर होनेकी ही होती है, परन्तु स्वरूपमें स्थिर न रह सके तब हेयबुद्धि पूर्वक शुभराग आ जाते हैं; ज्ञानी उनके ज्ञाता हैं, कर्ता नहीं। ४६४.

*

साधक जीवको भूमिकानुसार देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा -भक्ति, श्रुत-चिंतवन, अणुव्रत-महाव्रत आदिके शुभ विकल्प आते हैं — होते हैं; पर वे ज्ञायक-परिणतिको बोझारूप हैं। आहा हा! अरे! ऐसे शुभ विकल्प भी बोझारूप लगते हैं। जैसे रूईके ढ़ेर पर लोहेका भार ड़ालें और वह दब जाये वैसे ही जब ज्ञायक परिणतिको शुभ विकल्प भी बोझारूप लगते हैं; तब व्यापार-धन्धे-धनादिकी रक्षाके अशुभ रागके बोझकी तो बात ही क्या करनी ? ? पवित्र परिणतिमें शुभकी अपवित्र परिणति बोझरूप है — भाररूप है, आकुलता और क्लेशरूप है। आहा हा ! दिगम्बर संतोंका ऐसा स्पष्ट कथन है। भाई ! तुझे तेरा परिभ्रमण टालना हो तो सम्यग्ज्ञानकी तीक्ष्ण बुद्धिसे आनन्द-सागर स्वभावको पकड़ ले। जो आनन्दस्वरूप द्रव्य तेरे हाथमें आगया तो मुक्तिकी पर्याय सहज ही मिल जायेगी। ४७८.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टिको खण्ड ज्ञान और अखण्ड ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टिको जैसे अखण्ड़की दृष्टि है वैसे ही खण्ड़-खण्ड़ ज्ञान ज्ञेयरूप है। एक ज्ञान-पर्यायमें दो भाग हैं — जितना स्वलक्ष्यीज्ञान है वह सुखरूप है; और

जितना परलक्ष्यी, परसत्तावलम्बी ज्ञान है वह दुःखरूप है। पर-ओरका श्रुतका ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है — पर ज्ञेय है — पर द्रव्य है। आहा हा! देव-गुरु तो परद्रव्य हैं, परन्तु इन्द्रियज्ञान भी परद्रव्य है; आत्माका ज्ञान — वही वास्तविक ज्ञान है। ४८१.

*

अतीन्द्रिय आनन्दमें झूलते मुनि छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें रहने जितने कालमें आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढ़े बिना, वहीं के वहीं नहीं रहते। छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें रहते हुये भी आत्मशुद्धिकी दशा विकसित होती ही रहती है। केवलज्ञान न हो तब तक मुनिराज शुद्धिकी वृद्धि करते ही जाते हैं। यह तो मुनिराजकी अंतर-साधना है; जगतके जीव मुनिराजकी इस अंतर-साधनाको नहीं देख पाते। साधना कोई बाहसे देखनेकी वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अंतरकी दशा है। वनमें अकेले विचरण करते हों, बाघ-सिंहकी दहाड़ गूँजती हो, सिर पर पानी बरसता हो व शरीरमें रोग हो तो भी मुनिराजको इनका बिल्कुल भान नहीं रहता; वे तो अंतरमें एकाग्र हुए रहते हैं। — ऐसे मुनिराजकी अंतर-शुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है; अन्तरमें शुद्धता हेतुक चलनेवाला पुरुषार्थ उग्र होता जाता है। ४८८.

*

जिसे 'आत्मा' का विश्वास हुआ उसे कोई विघ्न ही नहीं, यह ऐसी वस्तु है। ४९६.

*

सम्यग्दृष्टिको पाँच इन्द्रियोंके विषयके अशुभराग होते हैं परन्तु वे उनमेंसे हटकर, ध्यानमें बैठते ही निर्विकल्परूपसे

जम जाते हैं। इसका कारण उनका जोर पूर्ण वस्तुपर होना है। बीचमें विकल्प आते हैं पर वे तो उनसे भिन्न...भिन्न... भिन्न ही हैं। ४९७.

*

आहा हा! दिगम्बर संतोंकी वाणी तो देखो! चीर-फाड़ करती हुई त्रिकाली चैतन्यतत्त्वको बतलाती है!...५०२.

*

किसी भी जीवको दुःख हो — ऐसा न हो। सभी जीव परमानन्दस्वरूप हैं, ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा हैं — उनके स्वभावमें दुःख कहाँ है? भाई! उल्टी श्रद्धा करनेसे तुझे पर्यायमें दुःख होगा। सत्यकी की जा रही प्ररूपणा तुझे न जचे, और (फलस्वरूप) तुझे दुःख हो — यह हम नहीं चाहते। क्षमा करना भाई!

आहा हा! मार्ग ऐसा है। प्रत्येक जीव — एकेन्द्रियसे लेकर उसी भवमें सिद्ध होनेवाले समस्त जीव, परमानन्द-स्वरूप आत्मा हैं — फिर अनादर किसका? मुझे दुःख हो तो अच्छा न लगे वैसे ही दूसरोंको दुःख हो यह भी हम कैसे चाहें? कोई विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा कर दुःखी हो— उसका अनुमोदन कैसे हो सके?

"साधुके अट्ठाईस मूलगुण — भगवान द्वारा हुई सत्य प्ररूपणानुसार—यथोक्त न हो व उनका छेदन होता हो तो, उसे साधु नहीं कहते; द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते।" — ऐसी सत्य प्ररूपणासे किसीको भी दुःख हो, हम ऐसा नहीं चाहते।

भाई ! बापू ! जब घासका तिनका भी हल्के-से चुभनेपर दुःख होता है, तो तुझे मिथ्याश्रद्धासे तो दुःख कितने होंगे ? — उनका अनुमोदन कैसे हो सके ? सब आत्माओंको शान्ति...शान्ति...शान्ति हो !

यहाँ हमें तो किसीसे विरोध नहीं है, कोई हमारा विरोध नहीं करता। सभी आत्माएँ द्रव्यस्वभावसे तो साधर्मी हैं। विरोधका भाव तो स्वयंको ही हानिकारक है; दूसरोंको नहीं। और अविरोधताका भाव भी अपनेको ही लाभप्रद है, अन्यको नहीं। आहा हा ! आत्मा तो सबसे उदास...उदास... उदास है। ५११. (पू. गुरुदेवश्रीके सहज करुणापूर्ण उद्गार।)

*

(सहजतत्त्व) अन्तराल पड़े बिना, कर्म-विघ्न बिना, रागके विघ्न बिना निरन्तर सुलभ है। सहज तत्त्वके सतत् अभ्याससे वह सुलभ है। भगवान आत्मा चैतन्य-प्रकाशका पूर है। अज्ञानी ऐसी महिमावन्त वस्तुकी महिमापूर्वक अन्तरमें नहीं उतरता व बाहरकी चीजोंमें ही अटका रह जाता है। ५२८.

*

धर्मी जीवने सहज तत्त्वपर दृष्टि रखी है, उसके लिए तो वह वीतरागताका घर है। वीतरागमूर्तिमेंसे वीतरागता छलकती है। जिस घरमें राग नहीं परन्तु जो समतासे भरा हुआ घर है — उस पर दृष्टि देनेसे समता प्रकट होती है। आत्मामें तो केवल वीतरागता ही भरी है, उसमें जिसने दृष्टि दी है उसके लिए तो वह वीतरागताका ही घर है।

उसीमेंसे उन्हें — सम्यग्दृष्टियोंको समता प्रकट होती है। ५२९.

*

मुनिराज कहते हैं कि 'हम इन संसार-जनित भावोंमें नहीं हैं'। स्त्री-पुत्र-पैसा-धंधा छोड़ा, अतः संसार छोड़ा है — यह बात नहीं है। जो पर्यायमें होनेवाले संसार-जनित सुख-दुःखादिसे दूर वर्तता है, उसीने संसार छोड़ा है। जो वस्तु प्रत्यक्ष है — प्रकट है — विद्यमान है, जिसका अस्तित्व पर्यायमें नहीं ध्रुवमें है — उस वस्तुमें जो निष्ठ (श्रद्धावान) नहीं है — वह आत्मासे भ्रष्ट होनेसे बहिर्आत्मा है। ५४५.

*

शक्तियोंका वर्णन करनेका हेतु तो यह है कि बाह्यमें तेरा ज्ञान, आनन्द, सुख, शान्ति नहीं है; अंतरमें ही तेरी शक्तियोंका निधान भरा पड़ा है — उस पर दृष्टि कर व बाहरसे दृष्टि हटा ले। अन्तरंग ज्ञान-दर्शन-आनन्द-सुख-वीर्य-प्रभुता आदि शक्तियों द्वारा जीना ही धर्मी जीवका जीवन है। बाह्य देहादिसे जीना सो धर्मी जीवका जीवन नहीं है। अन्तरमें अनन्त शक्तियोंका भण्डाररूप भगवान सहजानन्दमूर्ति विराजमान — अवस्थित है — उसकी दृष्टि व विश्वास पूर्वक जीना ही यथार्थ जीवन है। ५५६.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि जीवको अशुभ-रागके कालमें आयु-बन्ध होता है?

उत्तर :— उसे अशुभ-राग होता है, परन्तु अशुभ-रागके कालमें आयु-बन्ध नहीं होता। चूँकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य

वैमानिक देवलोकमें जाते हैं, अतः उन्हें शुभ-रागके कालमें ही आयु-बन्ध होता है। ५६०.

*

जिसे यथार्थ द्रव्य-दृष्टि प्रकट हुई है उसे दृष्टिके ज़ोरमें केवल ज्ञायक ही भासित होता है, शरीरादिक कुछ भी भासित नहीं होता। भेदज्ञानकी परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें आत्मा शरीरसे भिन्न भासित होता है। दिनमें तो भिन्न भासित होता ही है पर रात्रि निद्रामें भी आत्मा निराला ही भासित होता है। सम्यग्दृष्टिके भूमिकानुसार बाह्य-वर्तन होता है परन्तु बाह्य-वर्तनमें भी किन्हीं भी संयोगोंमें उसकी ज्ञान—वैराग्य शक्ति कोई अनोखी प्रकारकी रहती है। बाह्यसे वह चाहे जैसे प्रसंगों—संयोगोंमें जुड़ा हुआ दिखे तो भी ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ही से भासित होता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बदल जाए तो भी स्वरूप-अनुभवके विषयमें निःशंकता रहती है। 'ज्ञायक' ऊपर चढ़ कर ऊर्ध्वरूप विराजित रहता है, अन्य सर्व राग—विकल्प नीचे रह जाते हैं। चाहे जैसे शुभ-भाव आये, तीर्थंकर-गौत्रके शुभभाव आये तो भी वे नीचे ही रहते हैं। द्रव्य-दृष्टिवंतको ऐसा अद्भुत जोर रहा करता है। ५६७.

*

अन्तरमें जिनस्वरूपी भगवान आत्मा वीतराग-मूर्ति है। सभी जीव अन्तरमें तो जिनस्वरूप हैं; पर्यायमें अन्तर है, परन्तु वस्तुमें अन्तर नहीं है। जो रागसे एकता तोड़कर, जिनस्वरूपको दृष्टिमें ले व अनुभव करे — वह अन्तरंगमें जैन है। भेसमें जैनत्व नहीं है। बाह्यमें वस्त्र-त्यागकर नग्न हो बैठे हों, अतः जैनत्व है; पंच महाव्रत पालन करते हैं

इसलिए जैनत्व है — ऐसा नहीं है। परमात्मा 'जैन' तो उसे कहते हैं कि "जो 'वस्तु स्वयं ही जिन-स्वरूप है, वीतराग-मूर्ति, अखण्डानन्द नाथ प्रभु है' उसकी दृष्टि पूर्वक जिनकी राग-विकल्पकी दृष्टि छूट गयी हो!"। ५६९.

*

प्रश्न :— त्रिकालीद्रव्यके आश्रयसे निर्विकल्प आनन्दकी अनुभूति हो — उसी समय मुझे आनन्दका अनुभव होता है — ऐसा खयालमें आता है क्या?

उत्तर :— निर्विकल्प अनुभूतिके कालमें आनन्दका वेदन है; परन्तु विकल्प नहीं। विकल्प होनेपर खयाल आता है कि आनन्दका अनुभव हुआ; परन्तु आनन्द-अनुभवके कालमें आनन्द अनुभव होता है — ऐसा भेद (विकल्प) नहीं होता—केवल वेदन होता है। ५७०.

*

प्रश्न :— चौथे गुणस्थानमें अनुभव होता है अथवा केवल श्रद्धा ही होती है?

उत्तर :— चौथे गुणस्थानमें आनन्द-अनुभव सहित श्रद्धा होती है।

प्रश्न :— तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यक् कहा है, चारित्रको नहीं कहा?

उत्तर :— चारित्रकी पर्याय तो मुख्यरूपसे पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानसे ही गिनी जाती है, चौथे (गुणस्थान) वालेको तो स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हुआ है। ५७१.

*

प्रश्न :— ग्यारह अंगधारी द्रव्यलिंगीकी क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर :— स्व-सन्मुख दृष्टि नहीं करता — अतीन्द्रिय प्रभुके सन्मुख दृष्टि नहीं करता।

प्रश्न :— (क्या) द्रव्यलिंगी स्व-सन्मुख होनेका प्रयत्न न करता होगा ?

उत्तर :— नहीं। उसकी धारणामें तो सभी बातें रहती हैं परन्तु वह अन्तर्मुखताका प्रयत्न नहीं करता।

प्रश्न :— द्रव्यलिंगीकी भूमिकाकी तुलनामें सम्यक्त्व-सन्मुख (जीव) की भूमिका कुछ ठीक है ?

उत्तर :— हाँ। द्रव्यलिंगी तो संतुष्ट हो गया है। परन्तु सम्यक्त्व-सन्मुख जीव प्रयत्नरत है। ५७३.

*

प्रश्न :— धर्मी—साधक जीव रागका वेदक है कि ज्ञाता है ?

उत्तर :— साधक जीवका ज्ञान रागमें जाये तब दुःखका वेदन होता है; ज्ञान, ज्ञान ही में रहे तो सुखका वेदन करता है। ५७५.

*

प्रश्न :— ज्ञानीको तो दुःखका वेदन है ही नहीं न ?

उत्तर :— ज्ञानीको भी राग है उतना दुःख है। ज्ञानीको जितनी कषाय है, उतना दुःखका वेदन भी है। दुःखका वेदन नहीं है—ऐसा तो श्रद्धाके जोरकी अपेक्षासे कहा है कि ज्ञानी रागका वेदक नहीं परन्तु ज्ञायक है। एक ओर तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थानमें बंध ही

नहीं है और पुनः कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त संसारी है। जहाँ जिस अपेक्षासे कथन हो वहाँ उसी अनुसार समझना चाहिए। ५७६.

*

ज्ञानीको भी तीव्र रोग होते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, बाहरमें इन्द्रियाँ कार्य न कर सके, बाह्यमें असाध्यता जैसा लगे; परन्तु अन्तरमें कुछ भी असाध्य नहीं है। ५७९.

*

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं अथवा मुक्तिकी पर्यायको आना हो तो आवे?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि मोक्ष प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं; तथा मुक्तिकी पर्यायको आना हो तो आवे अर्थात् उसकी दृष्टि मात्र द्रव्यपर ही होनेसे मुक्तिकी पर्याय तो (अवश्य) आनेवाली ही है। ५९२.

*

साधुका भावलिंग तो आनन्दका उग्र वेदन होता है। नग्नता व पंच महाव्रत तो द्रव्यलिंग है। ५९५.

*

दिगम्बर मुनिराज अर्थात् पंच परमेष्ठीमें समाहित भगवन्तस्वरूप! आहा हा! कुन्दकुन्दाचार्य भगवानने कहा है कि 'अर्हन्त भगवानसे लेकर हमारे गुरु पर्यन्त विज्ञान-घनमें ही निमग्न थे...रागमें न थे, निमित्तमें न थे, भेदमें भी न थे — वे सभी विज्ञानघनमें ही निमग्न थे।' ५९७.

*

ध्रुवधामरूपी ध्येयके ध्यानकी प्रचण्ड धुनी — उत्साह व धैर्यसे — धुनना, ऐसे धर्मका धारक धर्मी धन्य है। ६११.

*

ज्ञानीको प्रत्येक समय अपने ही से हुए ज्ञेय-सम्बन्धी ज्ञानकी प्रसिद्धिकी मुख्यता है; ज्ञेयकी प्रसिद्धिकी मुख्यता नहीं। आहा! ज्ञान तो ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है परन्तु ज्ञेय भी ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है — यह सत् की पराकाष्ठा है। ६१६.

*

चैतन्यसूर्यके प्रकाशमें रागरूप अंधकारका आदर कैसे हो? जिसे ज्ञानस्वरूपका ज्ञान है वही ज्ञानी है। ६२३.

*

ज्ञान–संयम आत्माश्रित है, पराश्रित नहीं — यह जानते हुए ज्ञानी नित्य सहज ज्ञान-पुँजमें स्वावलम्बनसे स्थिर रहते हैं। ६३४.

*

भगवान आत्मा सदा अन्तर्मुख है। अति अपूर्व, निरंजन और निज-बोधका आधारभूत—ऐसा कारण परमात्मा है — उसका सर्वथा, सहज अन्तर्मुख अवलोकन द्वारा मुनिराज जो अनुभव करते हैं, उसे भगवान संवर और आलोचना कहते हैं। ६३५.

*

निमित्तसे भिन्न व रागसे भी अधिक (भिन्न)—ऐसे निज चैतन्यस्वभावका भान होनेके उपरान्त उसका वेदन

गहन हो जाता है और तब परिग्रहकी ममता छूट जाती है — ऐसी दशावाले श्रावकके ही प्रतिमा होती है। ६५५.

*

धर्मीको अन्य धर्मीके प्रति प्रेम उमड़ता है। सम्यग्दृष्टि को सच्चे गुरु व साधर्मीके प्रति प्रेम आये विना नहीं रहता। वे द्वेष भाव नहीं करते। मेरी कीर्तिकी अपेक्षा उसकी मान-कीर्ति अधिक हो गयी — ऐसा द्वेष नहीं करते। कदाचित् शिष्य पहले मोक्ष चला जाए तो भी उन्हें द्वेष नहीं होता। जैसे किसीको अपने पुत्रसे प्रेम हो और वह यदि अमीर हो जाए तो उसके प्रति द्वेष नहीं करता, उल्टा प्रेम तथा उल्लास दिखलाता है; वैसे ही शिष्यकी दशा विकसित होती जानने पर धर्मात्माको उसके प्रति द्वेष नहीं होता। ६५६.

*

समकिती, पंच परमेष्ठी–जिनवाणी–जिनप्रतिमा–जिनधर्म –जिनालय — इन नौ देवोंको मानता है, वह शुभराग है। यदि कोई जीव जिन-प्रतिमाका उत्थापन करता है तो, वह मिथ्यादृष्टि है। और जो मूर्तिपूजामें ही धर्म मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टिको भी पूजा–यात्रादिके राग हुआ करते हैं, पर वह उन्हें बन्ध मानता है। ६६४.

*

जेवर बेच देनेके बाद उन्हें सँभालनेकी चिन्ता नहीं रहती; वैसे ही ज्ञानीको शरीर–मन–वाणी–राज्य–धनादिके प्रति स्वामित्व (भाव) उड़ चुका होनेसे उनकी चिन्ता नहीं रहती। अज्ञानीको उनमें स्वामित्व-भाव रहा करता है। ६६६.

*

अन्तर्गर्भित अध्यात्मरूप क्रिया तो अन्तर्दृष्टिसे ही ग्राह्य है; परन्तु अज्ञानीको ऐसी दृष्टि प्रकट नहीं हुई है, अतः अध्यात्मकी अन्तर-क्रिया तो उसे दृष्टिगोचर नहीं होती; और इसी कारणसे अज्ञानी जीव मोक्ष-मार्गको नहीं साध सकता। वह चाहे जितने शुभभाव करे परन्तु अन्तरकी अध्यात्म-दृष्टि विना मोक्ष-मार्गको साधनेमें असमर्थ है। अज्ञानीको बाह्यकी क्रिया तथा शुभ परिणाम सुगम लगते हैं तथा वह उन्हींमें मोक्ष-मार्ग मानता है। अज्ञानी, ब्रह्मचर्य पालन व त्याग आदि शुभ परिणामको ही मोक्ष-मार्ग मानता है; परन्तु अन्तरमें निर्विकल्पज्ञानानन्द स्वभाव विद्यमान है उसमें ब्रह्मचर्यादिका शुभ विकल्प भी नहीं है। अध्यात्मकी ऐसी निर्विकल्प परिणतिको अज्ञानी पहचानता ही नहीं है; जिस कारणसे वह मोक्ष-मार्गमें नहीं है। ज्ञानी तो मोक्ष-मार्गको साधना जानता है। ६७०.

*

अन्तर-शुद्ध द्रव्य—एकरूप—निष्क्रिय—ध्रुव—चिदानन्द— सो निश्चय; तथा उसके अवलम्बनसे प्रकट हुई निर्विकल्प मोक्षमार्ग-दशा—व्यवहार है। अध्यात्मका ऐसा निश्चय-व्यवहार ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी नही... और उसे यह बात कदाचित् सुननेको मिले तो भी वह न माने। ६७१.

*

चौथे गुणस्थानमें उपादेयरूप शुद्ध भाव अल्प है, वह भाव पाँचवें—छठे गुणस्थानमें विकसित होता जाता है। और हेयरूप विकार चौथे गुणस्थानकी अपेक्षा पाँचवें—छट्टे गुणस्थानमें मंद होता जाता है। जैसे जैसे शुद्धता बढ़ती है

वैसे वैसे गुणस्थान-क्रम भी आगे बढ़ता जाता है। गुणस्थान अनुसार स्वज्ञेयको ग्रहण करनेकी शक्ति भी विकसित होती जाती है।

परद्रव्यको छोड़नेसे गुणस्थान बढ़े—ऐसा नहीं है। लंगोटी होनेपर पाँचवाँ व लंगोटी छोड़नेपर छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान हो—ऐसा नहीं है। किन्तु अन्तरमें द्रव्यको ग्रहणकर उसके आचरणकी उग्रता होनेपर गुणस्थान बढ़ता है। और बाह्यमें गुणस्थानानुसार निमित्त सम्बन्ध छूट जाते हैं। जैसे कि छट्ठे गुणस्थानमें सदोष आहार लेनेका विकल्प नहीं उठता और वस्त्रका संयोग भी नहीं होता; वह गुणस्थान तो अन्तर-शुद्धिके बलसे टिका हुआ है। कोई बाह्यमें वस्त्र-त्यागकर बैठनेसे छट्ठा गुणस्थान नहीं हो जाता।

गुणस्थान-अनुसार ही ज्ञान व उसी अनुसार क्रिया होती है। कोई चौथे गुणस्थानमें केवलज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान नहीं होता; वैसे ही क्रिया अर्थात् शुभभाव भी गुणस्थान अनुसार ही होते हैं। अन्तरमें चौथा गुणस्थान वर्तता हो व बाह्यमें द्रव्यलिंगी मुनि हो यानी छट्ठे गुणस्थान जैसी क्रिया हो—उसकी तो यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि जो गुणस्थान प्रगट हुआ, उस अनुसार ही क्रिया होती है। अन्तरमें छट्ठा गुणस्थान हो व बाह्यमें व्यापार करता हो—ऐसा नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुभ परिणामके आधारसे गुणस्थान होता है। ६७२.

*

दो जीव सम्यग्दृष्टि हों, उनमेंसे एक तो ध्यानमें बैठ

हो व दूसरा युद्ध मैदानमें खड़ा हो। तब दूसरे सम्यग्दृष्टिको ऐसा संदेह नहीं होता कि, अरे! हम दोनों सम्यग्दृष्टि होनेपर भी वह तो ध्यानमें बैठा है और मेरे युद्ध क्रिया! —ऐसी शंका नहीं होती; क्योंकि सम्यग्दर्शन उदयभावके आधीन नहीं है; वह तो अन्तर-स्वभावपर अवलम्बित है। धर्मीको उस स्वभावका आलम्बन युद्धके समय भी नहीं हटता। ज्ञायकप्रमाणज्ञान है तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरण चारित्र है। बाह्य क्रियानुसार अथवा शुभरागानुसार चारित्र नहीं बतलाया है, पर वह तो अन्तर-अनुभव प्रमाण होता है। देखो! यह धर्मीकी शक्ति!—ऐसी ज्ञाताकी सामर्थ्य है। ६७४.

*

जड़की क्रिया जड़के कारणसे होती है। धर्मीको अपने ही कारणसे शुभरागके कालमें शुभराग आता है, परन्तु वह धर्म नहीं। शुभरागके अवलम्बनसे धर्म नहीं होता। शुभरागके कालमें निजावलोकन मात्र ही धार्मिक क्रिया है। आत्मा बाह्य वस्तुओंका ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता है। जैसे रागके कारणसे परकी पर्याय नहीं होती, वैसे ही रागसे धर्म नहीं होता। चिदानन्द पदका जितना अनुभव हो, उतना ही धर्म है। ६८५.

*

जो अभ्यन्तर-आनन्दकन्दमें रमते हों, वे मुनि होते हैं। जो सदोष आहार—पानी लेते हैं, वे निश्चयसे अथवा व्यवहारसे भी मुनि नहीं हैं। मुनिके हेतु विशेष वस्तु बने तथा उसका मुनि सेवन करे तो, वह व्यवहारसे भी मुनि नहीं है। व्यवहार-शुद्धि न होनेपर भी स्वयंको मुनि माने

अथवा मनवाए—वह मिथ्यादृष्टि है। एक रज-कण भी मेरा नहीं, पुण्य-पाप मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञायक हूँ—जिसकी ऐसी दृष्टि हुई है—उसके विकल्प उठे तो एकवार निर्दोष आहार सेवन करे व अट्ठाइस मूलगुणके पालनरूप विरति व्यवहार परिणति हो, वह साधक है। तथा अन्तरमें चारित्र-शक्तिकी मुख्यता होना ही साध्य है। ६८९.

*

जबतक वस्त्रका एक धागा रखनेका भी भाव है तबतक मुनित्व-भाव नहीं आ सकता। मुनिपना आ जाए व वस्त्र रखनेका भाव भी आता हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। ६९१.

*

स्वरूपके भानपूर्वक प्रतिमामें भगवानकी यथार्थ स्थापनाको ज्ञानी जानता है। देखो! अर्हन्तदेवकी वीतरागी मुद्रा!! वह पत्थरसे घड़ी होनेपर भी वीतराग-मार्गको दिखलाती है। पर किसको?—कि जिसे अन्तरमें भान हुआ है उसे; अहो! शान्त...शान्त...वीतराग मुद्रा! ७०२.

*

अरे जीवो! "रुक...जाओ...उपशमरसमें डूब जाओ"—भगवानकी प्रतिमा—ऐसा उपदेश देती लगती है; अतः स्थापना भी परम पूज्य है। तीनों लोकमें शाश्वत वीतराग मुद्रित जिन-प्रतिमा हैं। जैसे लोक अनादि—अकृत्रिम है, लोकमें सर्वज्ञ भी अनादिसे है, वैसे ही लोकमें सर्वज्ञकी वीतराग प्रतिमा भी अनादिसे अकृत्रिम—शाश्वत है। जिन्होंने ऐसी प्रतिमाजीकी स्थापनाको ही उड़ा दिया है, वे धर्मको समझे ही नहीं हैं। धर्मी जीवको भी भगवानके

जिनबिम्ब-प्रति भक्तिका भाव आता है। ७०३.

*

धर्मात्मा—बालक हो, वृद्ध हो, मेढ़क हो, पर "मैं ज्ञानानन्द हूँ, राग सो मैं नहीं"—ऐसा भान होनेसे, जब अनुभव करता है तब, 'सिद्ध-समान' ही आत्माका अनुभव करता है। सिद्ध जितना पूर्ण अनुभव तो नहीं किन्तु सिद्धकी जातिका ही अनुभव होता है। निजस्वभावमें स्थिर होता है तभी आत्मतत्त्वकी अनुभूति होती है। एकदेश आनन्द-कन्दका अनुभव हुआ अर्थात् स्वरूप-अनुभवकी सम्पूर्ण जाति पहचानी। सिद्धों-अर्हन्तों आदिको जैसा अनुभव होता है, वैसा धर्मी जान लेता है। 'अनुभव पूज्य है'। "स्वयं शुद्ध आनन्द कन्द है" ऐसी श्रद्धा सहित अनुभव पूज्य है—वही परम है—वही धर्म है—वही जगतका सार है। आत्मानुभव तो भवसे उद्धार करता है। अनुभव तो भवसे पार लगाता है, महिमा धारण करता है, दोषका नाश करता है। आत्मशक्तिमें ज्ञान व आनन्द भरे हुये हैं। शक्तिकी व्यक्तिरूपी अनुभवसे ही चिदानन्दमें निखार आता है—वही वास्तविक विकास है। ७१२.

*

छट्ठे गुणस्थानवाला जीव अन्तर्मुहूर्तमें ध्यानमें (निर्विकल्पमें) न आए तो छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान नहीं रहता। चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें लम्बे-लम्बे कालके बाद निर्विकल्प-अनुभव होता है परन्तु ज्ञान लब्धरूपसे तो सदा ही वर्तित होता रहता है। ७१६.

*

धर्मी जीव, वाणी-योग व पुण्य-उदय होनेपर, बाद-

विवाद कर असत्यका उत्थापन तथा सत्का स्थापन करता है; परन्तु ऐसे उदयके अभावमें ज्ञानीको अन्तरमें असत्यकी अस्वीकृति, निषेध व विरोध वर्तता है।—ऐसी स्थितिमें शान्ति बनाए रखनेवाले मिथ्या मध्यस्थभाव रखनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं;—ऐसेमें सम्यग्दृष्टि शान्त होकर नहीं बैठ सकते। यदि अपनी मातापर लाँछन आए तो क्या सुपुत्र शान्तिसे सहन करता रह सकता है?! तत्त्वसे विरुद्ध कथन आए तो उसे धर्मी सहन नहीं कर सकता। ७२३.

*

जिसके सच्ची श्रद्धा प्रकट होती है उसका सम्पूर्ण अन्तरंग ही बदल जाता है, हृदय पलट जाता है। अन्तरमें उथल-पुथल हो जाती है। अनादि अज्ञान-अन्धकार टलता है, अन्तरकी ज्योति जग उठती है। उसकी दशाकी दिशा सम्पूर्णतः फिर जाती है। जिसका अन्तर बदलता है उसे किसीसे पूछने नहीं जाना पड़ता। उसका अन्तर बेधड़क पुकारता हुआ साक्षी देता है कि—अब हम प्रभुके मार्गमें आ गए हैं, सिद्धका संदेशा आ चुका है, अब हम अल्प कालमें सिद्ध होकर (संसारसे) छुटकारा पायेंगे; अब और कुछ नहीं होनेवाला है, अन्तर नहीं पड़नेवाला है। ७३९.

*

'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ' 'मेरे स्वभावमें संसार नहीं है' —ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव संसारके स्वरूपका विचार करते हैं। जिसे संसार-रहित स्वभावकी दृष्टि प्रकट नहीं हुई उसे संसार-स्वरूपका यथार्थ विचार नहीं होता। ७४८.

*

सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्धभाव द्वारा शुद्धजीवको निश्चयसे जानता है; परसे या रागसे नहीं, वरन् ज्ञानसे जानता है। ऐसे भानवाला आत्मा, परसे अस्पर्शित आत्मा—निज-भान किये पश्चात् सर्व संगसे विमुक्त होता है। 'मैं सर्व संगसे विमुक्त हूँ'—प्रथम ऐसी दृष्टि होनेपर ही पर्यायमें सर्व संग विमुक्त होता है। ७५६.

*

निर्धनता कोई अपराध नहीं व सधनता कोई गुण नहीं है। निर्धनता होनेपर भी जिसे अन्तरमें भान है कि "मैं तो चैतन्य-निधिका स्वामी हूँ, केवलज्ञानकी अनन्त निधि मुझमें पड़ी है, जड़—संयोगमें मेरा सुख नहीं है"—ऐसे धर्मी जीवको भगवानने 'पुण्यजीव' कहा है। ७५९.

*

जिसे स्वयंको श्रद्धा व सच्चाज्ञान हुआ हो उसकी चमक छिपी नहीं रहती। उसे तो अन्य सम्यग्दर्शनादि गुणोंके धारक जीवोंके प्रति अत्यन्त प्रेम होता है। धर्मात्माको देखते ही अनुराग उमड़ता है। निज-गुणकी प्रीति व बहुमान होनेसे अन्य जीवोंमें भी गुण देखते ही उनके प्रति बहुमान व आदर आता है। अन्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनादिके धारक जीवोंमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। ७६२.

*

ज्ञान है, ज्ञेय भी है, कोई किसीके कारणसे नहीं है। वर्तमानज्ञान सामान्य ज्ञानस्वभावकी ओर झुक कर जाता है—उसमें "यह नहीं"—ऐसा भाव ज्ञानीको नहीं होता। ठीक–अठीक समझकर अटकना, यह ज्ञानीका कार्य नहीं है।

प्रश्न :—राग नहीं चाहिए—ज्ञानीको ऐसा विचार होता है कि नहीं?

उत्तर :—ज्ञानमें तो ज्ञेय है; उसको टालनेके भाव-रूप श्रद्धा नहीं होती। अस्थिरतासे विकल्प अवश्य उठते हैं; परन्तु 'है जो है' ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक ही सब बात है। ७७१.

*

धर्मी जीव, आत्माके ज्ञानानन्द स्वभाव-सन्मुखताकी रुचिपूर्वक बारह भावनाओंका चिंतवन कर अन्तर-एकाग्रता बढ़ाता है, वह संवर है। अन्तर-दृष्टि बिना ऐसी भावना यथार्थ नहीं होती। ये बारह भावना ही धर्मी जीवके आनन्दकी जननी है। ७७८.

*

सम्यग्दृष्टि भयसे, आशासे, स्नेहसे अथवा लोभसे—कुदेव, कुशास्त्र तथा कुलिंग—वेषधारीको प्रणाम अथवा उनका विनय नहीं करता है। ७८२.

*

जीवका प्रयोजन-सिद्ध करने हेतु अध्यात्म-दृष्टिमें अभेदको मुख्य कर उसे निश्चय कहा है। व उसमें भेदका अभाव है, इसीलिए अभेद-दृष्टिमें भेदको गौण कर उसे व्यवहार कहा है।—इस मुख्य-गौणके रहस्यमय भेदको सम्यग्दृष्टि ही जानता है। ७८३.

*

द्रव्य-गुण-पर्यायमें अनेक धर्म हैं। जैसे द्रव्यमें अनेक स्वभाव धर्म हैं, वैसे ही पर्यायमें भी अनेक स्वभाव-

धर्म है। प्रत्येक समयकी पर्याय अपना अस्तित्व स्वयं ही अक्षुण्ण रखती है, इसमें परसे नास्तित्वरूप धर्म है। ऐसा न हो तो पर्यायका अस्तित्व ही न रह सके। सम्यग्दृष्टि —ऐसे द्रव्य–गुण व पर्याय-धर्मका विचार निजस्वभाव-सन्मुख रहकर करता है। उसमें जितना राग घटे वही धर्म है। ७८५.

*

सर्वज्ञदेवने एक समयमें तीन काल व तीन लोक जाने हैं व मेरा भी जाननेका ही स्वभाव है। 'जो होनी है' वह बदल नहीं सकती, पर 'जो होना है' उसका 'मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ'। मैं परकी पर्यायको तो बदलनेवाला नहीं परन्तु अपनी पर्यायको भी बदलनेवाला नहीं। धर्मीका निजस्वभाव-सन्मुख रहते हुए ऐसा निश्चय होता है—जो नहीं होना है, वैसा कभी नहीं होनेवाला है; मैं कहीं भी फेर–बदल करनेवाला नहीं हूँ। ७८९.

*

अहो! दिगम्बर संतोंका कोई भी ग्रन्थ लो, वह आत्माको चैतन्यस्वभावमें स्तंभित कर देता है। ७९०.

*

जो अन्तर-शुद्ध स्वभावपर दृष्टि पड़ी है वह न तो भवको बिगड़ने देती है और न भवको बढ़ने देती है। ज्ञानस्वभावके अनादरसे जो कर्म बन्धे हैं—सम्यग्दृष्टि—उन कर्मोंका ज्ञानस्वभावकी भावना द्वारा नाश कर डालता है। सम्यग्दृष्टिको भले ही (पूर्वमें) अज्ञान-दशामें किसी नरकादिका आयु-बन्ध हो गया हो; परन्तु सम्यग्दर्शन सहित जीवको तो नरकादिका आयु-बन्ध होता ही नहीं है।

सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है। ७९४.

*

ज्ञानीकी दृष्टि तो संसारसे छूटने की है। अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभावकी मुख्य भावना व आदरमें सावधानीसे प्रवृत्त रहता है। फिर भी वह यदि किसी अतिचारमें रक्त हो गया हो तो भी उससे छूट कर, शान्त ज्ञानस्वभावमें ही स्थिर होना चाहता है। परन्तु जो ऐसा मानता है कि संयोग पलट दूँ तथा क्रोधादि करने योग्य हैं—उसके तो श्रद्धामें ही स्थूल विपरीतता है। ज्ञानीके तो वीतरागदृष्टि ही मुख्य है; उसमें तो वह तनिक भी क्षति नहीं होने देता। हाँ, यदि चारित्रमें निर्बलताके कारण अतिचार हो जाए तो निंदा कर, खेदको प्राप्त होता है; बुद्धि-पूर्वक बचाव नहीं करता कि ऐसा दोष गृहस्थदशामें हो तो कोई हानि नहीं। जो—ऐसा करे, वह तो स्वच्छंदी—मिथ्यादृष्टि है। ७९५.

*

"अशरीरी सिद्धकी ही जातिका मैं हूँ"—उस एक ही का आदर करनेकी मेरी दृढ़ टेक है; अतः स्वप्नमें भी पुण्य–पाप–संसारकी बातोंका आदर नहीं करता। जो सिद्ध, चिदानन्द पूर्ण हुए हैं उनके कुलका मैं भी उत्तराधिकारी हूँ। चार गतिमें घूमनेका राग कलंक है। अतीन्द्रिय–सिद्ध–परमात्मदशाकी महिमा द्वारा, सर्व कलंक दूर कर वीतरागी होनेवाला हूँ—इस प्रकार धर्मी, गृहस्थदशामें प्रतिज्ञा कर दृढ़ व्रती होता है। ७९६.

*

राग तोड़कर, पुरुपार्थकी शक्ति तथा एकाग्रताके जोर-अनुरूप ही ज्ञानी प्रतिज्ञा लेता है। हठ कर, देखादेखीसे, आवेशमें आकर प्रतिज्ञा नहीं करता। परन्तु सहज ज्ञानमें समता द्वारा वाह्य-आलम्बनरूप राग घटानेका नित्य प्रयोग करता है। ७९७.

*

चारित्रके प्रयोजनसे किये जानवाले उद्यम व उपयोग को तप कहा गया है। आत्मामें पुरुपार्थपूर्वक निज उपयोगको तन्मय करना सो ही चारित्र अथवा तप है। जो वीतरागदशा प्रकट करे सो तप है। उस समय कायक्लेश होता है, परन्तु मुनि तो उससे आत्मामें होनेवाली विभाव-परिणतिके संस्कारको मिटानेका उद्यम करते हैं। यानी कायक्लेशमें शरीर कृश हो अथवा अंगोपांग चूर हो जाएँ इत्यादिके निमित्तसे विभाव-परिणति प्रति अरोचकता—द्वेप न हो परन्तु स्वभावमें विशेष लीनता हो—मुनि ऐसा उद्यम करते हैं। तथा निज शुद्धस्वरूप उपयोगको चारित्रमें स्थिर करते हैं, वे वहुत उग्रतासे स्तंभित होते हैं—ऐसी उग्रता ही तप है, वह वाह्य-अभ्यंतर भेदसे वारह प्रकारका है। ८०२.

*

मुनिकी वीतरागदशा वहुत विकसित हुई होती है; परन्तु फिर भी अपूर्णता होनेसे रागके कारण शुभभाव होते हैं। अतः ऐसा कहा जाता है कि धर्मके कारण पुण्य-उपार्जन होता है, पर धर्मीको केवल पुण्य-उपार्जन हेतु धर्म-सेवन नहीं होता। वास्तवमें धर्म तो गुणका उपार्जन है; परन्तु शुभाशुभभाव आये विना नहीं रहते, अतः व्यवहारसे कहा जाता है कि धर्मी पुण्य-उपार्जन करता है। परन्तु

पुण्यकी वाँछा रखनेपर तो उसका सम्यक्त्व ही नहीं टिक सकता। ८०४.

*

प्रश्न :—(मुनि) मूर्छा विना वस्त्र रखे तो क्या क्षति है।

उत्तर :—मुनिकी छट्ठी (गुणस्थान) भूमिका अरागी अहिंसा है। उन्हें शरीरके अतिरिक्त किसी भी संयोगके प्रति मूर्छा नहीं होती। केवलज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यतावाले मुनि, जो पलमें सातवीं व पलमें छट्ठी भूमिकामें झूलते हैं—आनन्दमें झूलते हैं, उन्हें वस्त्र रखनेके रागवाली दशा नहीं होती। रागवाली दशाको चारित्र मानना, हिंसा है। ८०६.

*

मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगतमें उनका माहात्म्य व मान बढ़े। मुनिको तो चार गतियोंके भवमें ही वैराग्य वर्तता है, वे तो देव-गतिकी भी इच्छा नहीं करते। उनका बाह्य तप ऐसा है कि पाँच इन्द्रियोंके भोगसे भी मन टूट गया है; इस समय मुनिराजको अंतरंग तप भी होता, अंतरात्मामें आत्माका ही प्रेम होता है। जैसे किसीका इक्कीस वर्षका पुत्र मर गया हो तो उसके मोहवश कलेजेमें घाव लगते हैं, उसीके खयालमें जगतके अन्य पदार्थोंका प्रेम विस्मृत हो जाता है; वैसे ही मुनिराजको आत्माका प्रेम वर्तता है अतः परका प्रेम नहीं रहता। ८०८.

*

मुनिजनोंकी अनुपस्थितिमें उनकी भक्ति करनी। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशाको प्राप्त हों व बाह्यमें नग्न-

दिगम्बर दशा हो उन्हें मुनि कहते हैं। वर्तमानमें ऐसे मुनि दिखाई नहीं देते अतः उनकी परोक्ष भक्ति करनी चाहिए। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पूज्यपादस्वामी, समन्तभद्राचार्य आदि महान् आचार्योंकी—जिन्होंने सर्वज्ञ देवकी वाणी-अनुसार शास्त्रोंकी रचना कर, धर्मको टिकाया है तथा जो धर्मके स्तम्भ हैं; भक्ति–प्रशंसा–बहुमान करना व उनका उपकार गाना चाहिए। ८०९.

*

मुनि-धर्म शुद्धोपयोगरूप है। पुण्य–पापरूप शुभाशुभभाव-धर्म नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है—ऐसा निर्णय तो पहले ही हो चुका होता है। सम्यग्दर्शन सहित अन्तरमें लीनता वर्तती हो, वही मुनि-धर्म है। ८२२.

*

मुनिराज बाईस परीषहको सहन करते हैं। जो हठसे परीषहको सहन करते हैं उन्हें धर्म तो नहीं है, पर शुभभाव भी नहीं है; उनके तो केवल अशुभभाव होता है। जिन्हें आत्माके भानपूर्वक शुद्धोपयोग हुआ है उन्हें परीषहके कालमें उस-ओरका विकल्प भी नहीं उठता—यही परीषह-जय कहलाती है। ८२३.

*

आचार्य व उपाध्याय—इन दो पदवी-धारकोंके अलावा भी अन्य समस्त जो मुनिपदके धारक हैं, वे मुनि हैं और आत्मस्वभावको साधते हैं। 'साधु' शब्द द्वारा निजस्वरूपकी साधनाकी बात ही मुख्यतासे की है। आत्माके भानपूर्वक निजस्वभावको साधते हैं व आत्मामें लीन होते हैं—ऐसे मुनि, पुरुष ही होते हैं। स्त्रीको तीन कालमें भी मुनिपना

नहीं होता। जिनकी बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थ दशा होती है, वे ही मुनि हैं। जो स्त्रीके साधु-पद मानते हैं उनका तो 'नमस्कारमंत्र' भी सच्चा नहीं है। अठाइस मूल गुण-पालन, नग्न दशा, परीषह-जय आदि जैन मुनियोंकी यही दशा होती है। परीषह-जयमें स्त्रीको भी परीषहरूपमें लिया है; अतः पुरुष ही मुनि होते हैं। ८२४.

*

अपने ज्ञानमें विवेक प्रकट हुआ होने से अर्हन्तादिको स्मरणपूर्वक नमस्कार करते हैं। वे ही प्रिय और अपने हैं। जैसे विवाह-प्रसंगमें स्नेही सम्बन्धियोंको निमंत्रण देते हैं, वैसे ही धर्मार्थ हेतु इष्ट ऐसे—सिद्धों, अर्हन्तों, जिनविम्बों आदिको स्मरण कर नमस्कार करते हैं; उनके उपकार नहीं भूले जाते।

कितने ही जीव सनातन दिगम्बर-परम्पराके शास्त्र वांचन कर कुदेवादिके नामसे प्ररूपणा करते हैं, अतः वे अनन्त संसारी हैं।

जिन्हें सच्चे निमित्त प्रति ही बहुमान नहीं आता, उन्हें आत्माका बहुमान तो आ ही नहीं सकता। निमित्तका विवेक तो वास्तवमें आत्माका विवेक है। जिन्हें स्वरूप-दृष्टि हुई है—उन्हें निमित्त-प्रति विनय हुए बिना नहीं रहता।

जो लोग निश्चयके नामसे (बहाने से) भूले हुए हैं तथा व्यवहारको नहीं समझते, वे निश्चय-व्यवहार दोनोंको ही भूले हैं। ८२७.

*

प्रश्न :—पर वस्तु बन्धका कारण नहीं है तो फिर वस्त्रके होने अथवा न होनेसे मुनिपनेमें क्या बाधा आती है?

उत्तर :—पर वस्तु बन्धका कारण नहीं है। वस्त्र कोई बन्धका कारण नहीं है परन्तु वस्त्र–पात्र रखनेपर उसमें होनेवाला ममत्व-भाव बन्धका कारण है। वस्त्र–पात्र हो व उसके प्रति ममत्व-भाव न हो—ऐसा सम्भव ही नहीं है। अतः जिनके वस्त्र–पात्र हैं, उनके ममत्व-भाव भी है ही; फिर भी जो मुनिपना माने तो—वह मिथ्यात्वभाव है और अनन्त संसारमें भटकानेवाला भाव है। मोटर, बंधका कारण नहीं है पर उसमें बैठनेका राग-भाव बन्धका कारण है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए। जो पर वस्तुको बन्धका कारण मानते हैं वे वस्तुस्वभावको समझे ही नहीं हैं। ८५४.

*

वर्तमानमें लक्ष्मी न हो तो भी जो पापका अभाव कर स्वरूप-सम्पदाकी प्राप्ति हुई...तो फिर, मुझे अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन है? इसके विपरीत पाप-परिणाम हों तो अंतरकी सम्पदा तो लुटाती है। अतः बाह्यमें लक्ष्मी मिले तो उससे मुझे क्या लाभ है?—कुछ नहीं; सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है। ८५६.

*

धर्मी जीवको विकसित (धर्म) पर्यायकी भी रुचि नहीं होती। रुचि तो, अन्तर्मुख स्वभावकी ही रहती है। चार ज्ञान विकसितरूपसे प्रकट हों तो भी क्षायोपशमिकज्ञान होने से धर्मीको उनकी रुचि नहीं होती तो फिर उसकी राग व पर पदार्थोंमें रुचि होना कैसे सम्भव है? ८५८.

*

बाह्य-क्रियासे निर्जरा नहीं होती। पंचम गुणस्थानवाले श्रावकको एक मासका उपवास करते समय जो निर्जरा

होती है उसकी अपेक्षा मुनिको निद्राकालमें अथवा आहार-पानके समय अधिक निर्जरा होती है। यानी अकषाय-परिणाम अनुसार निर्जरा होती है, बाह्य-प्रवृत्ति उसका कोई आधार नहीं है। ८७८.

※

जिसको अंतरदृष्टि व ज्ञान नहीं है, उसका तो उपचारसे भी बाह्य-तप नहीं कहलाता है। ऐसे ही अनशन, प्रायश्चित्त, विनय आदिको तप बतलाया उसका कारण यह है कि अनशनादि साधनसे प्रायश्चित्तरूप प्रवर्तमान वीतरागभावरूप सत्य तप पोषित हो सकता है, इसीलिए प्रायश्चित आदिको उपचारसे तप कहा है। परन्तु यदि कोई वीतरागभावरूप तपको तो न जाने, किन्तु बारह तपको ही तप जानकर आचरण करता है तो संसारमें भ्रमित होता है। लोग तो बाह्य-तपको ही धर्म मानते हैं।

अज्ञानीकी तपश्चर्याको सच्ची तपश्चर्या मानना व वैसा ही प्ररूपित करना, बड़ा पाप है। दृष्टिका पता ही नहीं, सत्य बात रुचिकर न हो व व्रत धारण करे तो — वह वास्तवमें जैन नहीं है। ८७९.

※

सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करता है सो तत्त्वज्ञानपूर्वक करता है। ज्ञानी, मिथ्यादृष्टिके समान अधीर होकर प्रतिज्ञा नहीं करता। जिसे स्वरूपाचरणका अल्पांश—शांतिका एक कण भी प्रकट हुआ है, वह द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव देखकर ही प्रतिज्ञा करता है। काल कैसा है ? हठ विना,

आक्षेप विना, परके दोषोंसे उन्मुख होकर, निजपरिणामके अवलोकनसे, अपनी दिखनेवाली योग्यता आदिके विचारपूर्वक ही सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा व प्रतिक्रमण करता है।

कितने ही जीव प्रतिज्ञा ले बैठते हैं परन्तु अन्तरमें तत्त्वज्ञानका अभाव होनेसे उनके भीतर कषायकी वासना नहीं मिटती। ८८२.

*

कोई ऐसा कहे कि आत्माको नहीं जान सकते, सम्यग्दृष्टि–मिथ्यादृष्टिका पता नहीं पड़ता, भव्य–अभव्यका पता नहीं चलता तो उसे ज्ञानके सामर्थ्यकी ही खबर नहीं है। ज्ञान, स्व–पर प्रकाशक है अतः वह आत्माको और परको न जाने—ऐसा सम्भव ही नहीं है। ऐसे जीवको तो निज ज्ञान-सामर्थ्यका ही विश्वास नहीं है।

लब्धिके अधिकारमें ऐसा कहा है कि जिसे चौदह पूर्वका ज्ञान है—ऐसा ज्ञानी, जो न्याय निकालता है वैसा न्याय सम्यग्दृष्टि भी निकाल लेता है, उसमें इतनी सामर्थ्य है। अतः ज्ञानीको द्रव्यलिंगीका अन्यथारूप भासित हो सकता है। ८८६.

*

सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्टतः अंतःक्रोड़ाक्रोड़ी सागरकी पुण्य-स्थिति बांध सकता है व मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्टतः पंद्रह क्रोड़ाक्रोड़ी सागरकी पुण्य-स्थिति बांध सकता है। परन्तु वे दोनों ही इतनी स्थिति नहीं भोग सकते; क्योंकि त्रसकी उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागरकी है। सम्यग्दृष्टि जीवकी स्वभाव पर दृष्टि होनेसे वह पुण्य-स्थितिको क्रमशः

तोड़कर मोक्षमें चला जाएगा तथा मिथ्यादृष्टि जीव परसे तथा पुण्यसे लाभ मानता होनेसे क्रमशः पुण्य-स्थितिको तोड़कर, पाप-परिणाम कर निगोदमें चला जाएगा। अतः यथार्थता समझनी चाहिए। ८८७.

*

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि भी पर द्रव्योंको बुरा जानकर उनका त्याग करता है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि पर द्रव्योंको बुरा नहीं जानता, वह तो अपने राग-भावको ही बुरा मानता है। स्वयं सराग भावको छोड़ता है तब उसके कारणोंका भी त्याग हो जाता है। वस्तु-विचारणामें तो कोई भी पर द्रव्य भला—बुरा नहीं है। पर द्रव्य तो आत्माका एकरूप ज्ञेय है। एकरूपतामें अनेकरूपताकी कल्पना कर, एक द्रव्यको इष्ट तथा अन्य द्रव्यको अनिष्ट मानना, मिथ्याबुद्धि है। ८८८.

*

अज्ञानीकी उदासीनतामें केवल शोक ही होता है, क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि एक पदार्थकी पर्यायमें अन्य पदार्थकी पर्याय अकिंचित्कर है। अतः वह पर द्रव्यकी पर्यायको बुरा जानकर, द्वेषपूर्वक उदासीनभाव करता है। परन्तु पर द्रव्यके गुण—दोष ही न दिखना ही वास्तविक उदासीनता है। यानी ज्ञानी पर द्रव्यको गुणका अथवा दोषका कारण ही नहीं मानते। अपनेको निजरूप तथा परको पररूप जाने—वही सच्ची उदासीनता है। ८९०.

*

द्रव्यलिंगी विषय-सेवन छोड़कर, तपश्चरण करे तो

भी वह असंयमी है। सिद्धान्ततः असंयत अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावककी अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनिको हीन बतलाया है; क्योंकि उसका तो प्रथम गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु, नौ कोटि बाढ़ ब्रह्मचर्य-पालन करे, मन्द कषाय करे; परन्तु आत्माका भान न होनेसे उसे चतुर्थ व पंचम गुणस्थानवाले ज्ञानीसे हीन बतलाया है।

प्रश्नः—असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषाय-प्रवृत्ति होती है। ज्ञानीके राजपाट होता है, वह कदाचित् युद्धमें भी खड़ा होता है—ऐसी कषाय-प्रवृत्ति होती है; जबकि द्रव्यलिंगीके ऐसी कषाय-प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। द्रव्यलिंगी मुनि ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है तथा चतुर्थ–पंचम गुणस्थानवाला ज्ञानी सोलहवें स्वर्ग तक ही जाता है; तो फिर उससे द्रव्यलिंगीको हीन कैसे बतलाया? द्रव्यलिंगीको भावलिंगीसे हीन कहा (सो ठीक) परन्तु चतुर्थ गुणस्थानवालेकी अपेक्षा हीन क्यों बतलाया है?

समाधानः—असंयत–देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है, परन्तु उसकी श्रद्धामें कोई भी कषाय करनेका अभिप्राय नहीं रहता। पर्यायमें कषाय होती है, पर वह उसे हेय मानता है। द्रव्यलिंगीको तो शुभ-कषाय करनेका अभिप्राय रहता है तथा उसे श्रद्धामें भला भी समझता है। ज्ञानी और अज्ञानीके अभिप्रायमें बहुत बड़ा अन्तर है। अज्ञानी, मन्दकषायको उपादेय मानता है, अतः उसके एक भवका भी नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि, कषायको हेय मानता है, अतः उसने अनन्त भवोंका नाश कर

लिया है। इसीलिए अभिप्राय-अपेक्षासे चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानीकी तुलनामें द्रव्यलिंगीको हीन बतलाया है। द्रव्यलिंगीको वैराग्य भी प्रचुर होता है, परन्तु अभ्यन्तर दृष्टि कषायपर ही होती है। वह, अकषाय स्वभावकी दृष्टि न होनेसे मन्द कषायरूप परिणामको उपादेय मानता है। (इस प्रकार) ज्ञानी–अज्ञानीके अभिप्रायमें पूर्व–पश्चिम जितना अन्तर है।—इसीलिए यह कहा है कि ज्ञानीकी तुलनामें द्रव्यलिंगी मुनिके कषाय बहुत अधिक होती है। ८९५.

*

जिनके अन्तरमें भेदज्ञानरूपी कला जगी है, चैतन्यके आनन्दका वेदन हुआ है—ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। ऐसे ज्ञानी विषय–कषायोंमें मग्न हों—यह विपरीतता सम्भवित नहीं है। जिन जीवोंको विषयोंमें सुखबुद्धि है, वे ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानीके तो अन्तरके चैतन्यसुखके अलावा समस्त विषय-सुखके प्रति उदासीनता होती है। अभी जिसको अन्तरमें आत्म-भान ही न हो, तत्त्वसम्बन्धी कुछ भी विवेक न हो, वैराग्य न हो और वह ध्यानमें बैठ कर अपनेको ज्ञानी माने तो वह स्वच्छन्द-पोषण करता है; ज्ञान–वैराग्य शक्ति बिना वह पापी ही है। ९०५.

*

जो तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोगका अभ्यास करता है उसको समस्त आचरण अपने वीतरागभाव अनुसार भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानपूर्वक आचरण पालते हैं। श्रावकको बारह व्रतका तथा मुनिको अट्ठाइस

मूल गुणके पालनका विकल्प आता है। मुनिको वस्त्र–पात्र रखनेका भाव नहीं होता है। मुनिको तो मात्र संज्वलन कषाय होती है। उन्हें उपदेश देनेका, आहारका, कि विहारका राग आता है—वे सब उन्हें निज वीतरागतानुसार भासित होते हैं। ९०८.

*

अज्ञानी जीव शास्त्रोंका रहस्य नहीं समझता, अतः उसका समस्त ज्ञान, कुज्ञान है। तथा सम्यग्दृष्टि कुशास्त्र पढ़े तो भी उसका ज्ञान, सुज्ञान है। जिसकी दृष्टि सुल्टी है उसका सब कुछ सुल्टा है व जिसकी दृष्टि उल्टी है उसका सारा ज्ञान उल्टा है। मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व व ग्यारह अंगका पाठी हो तो भी उसे अज्ञान ही है। ९०९.

*

देखो! सम्यक्त्वकी महिमा! कि जिसके बलसे भोग भी निज-गुणका कुछ नहीं कर सकते। भगवान सत् परमेश्वर है उसका स्वीकार करनेसे भोग भी अपने (वस्तु) गुणोंका कुछ नहीं कर सकते अर्थात् वे विशेष बन्ध नहीं कर सकते। ज्ञानी, (पुरुषार्थवश) अस्थिरतारूपी रागका स्वामी नहीं होता, वह तो त्रिकाली स्वभावका स्वामी होता है। जो इस प्रकार नहीं मानता, वह बाह्य दृष्टिवन्त बहिर्आत्मा है। और अन्तर्दृष्टिसे अवलोकन करनेवाला अंतर्आत्मा है। ९१५.

*

प्रश्नः—समकिती जब भी चाहे तब शुद्धोपयोग ला सकता है न?

उत्तरः—मैं शुद्धोपयोग लाऊँ—ऐसी समकितीको इच्छा ही नहीं होती। इच्छा तो राग है व उससे शुद्धोपयोग नहीं आता। स्वभाव-सन्मुख होनेपर, इच्छा टूट जाती है। समकितीको अकषाय परिणमन तो सदा ही वर्तता है। छट्ठे गुणस्थानमें अकषाय परिणमन रहता है, परन्तु शुद्धोपयोग नहीं होता। चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें शुद्ध परिणति सदा ही रहती है परन्तु शुद्धोपयोग सदा नहीं होता। स्वरूपमें लीन होनेपर, बुद्धिपूर्वक-रागका अभाव होना ही शुद्धोपयोग है। स्वभाव-सन्मुख दृष्टि होनेके बाद कालक्रममें शुद्धोपयोग आता है। शुद्धोपयोगकी भावना तो रहती है, परन्तु शुद्धोपयोगको इच्छापूर्वक लाऊँ—समकितीको ऐसा लोभ नहीं होता। ९१६.

*

ज्ञानीको उपयोगका लोभ नहीं होता। सहज ही शुद्धोपयोग होता है। इच्छाका होना भावना नहीं, वरन् आस्रव है। ज्ञानमें एकाग्रता होना ही भावना है। पर्यायका क्रम बदलनेका अभिप्राय मिथ्यादृष्टिको होता है, यद्यपि क्रम नहीं बदलता। ज्ञानी, पुरुषार्थगुणको अलग करके कार्य नहीं करते। ज्ञानानन्द स्वभावके आश्रयसे सहज शुद्ध उपयोग हो जाता है. ९१७.

*

परको छोड़ूँ अथवा रागको छोड़ूँ—यह बात तो रहती ही नहीं; बल्कि, शुद्ध उपयोगको लानेकी भी बात नहीं है—यह वस्तुकी मर्यादा है। शुद्धोपयोगका काल न हो, क्या उस समय ज्ञानी उसे लाना चाहता है? क्या पर्याय-क्रम बदलना चाहता है? नहीं! ज्ञानस्वभाव-ओर जो पुरुषार्थ है

उससे शुद्धोपयोग आ जाता है। 'जिस समय जो परिणाम होने हैं सो होंगे ही' समकितीको उन्हें बदलनेकी बुद्धि नहीं होती। पर्याय-बदलनेकी बुद्धि तो मिथ्यादृष्टिको होती है। स्वभाव-सन्मुखदशामें उग्रता होते ही शुद्धोपयोग सहज ही हो जाता है। ९१८.

※

ज्ञानीका भी प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत दोनों ही तत्त्वोंको जाननेका क्षयोपशम है, फिर भी मिथ्यात्वके अभावके कारण उसका प्रयोजनभूत तत्त्वको जाननेमें लक्ष्य जाता रहनेसे, वह सुखी होता है। अज्ञानी कदाचित् व्यवहारधारणा तो करता है परन्तु अन्तर्दृष्टि नहीं करता, जिस कारणसे वह अप्रयोजनभूत तत्त्वको ही जानता है। ९३५.

※

प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादिके शुभ विकल्प आते हैं। आनन्दस्वभावमें लीन होऊँ—धर्मीकी ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा लिए बिना आसक्तिका नाश नहीं होता। प्रथम तो स्वभावका भान होना चाहिए। ९४९.

※

जैसे किसीने संगीत-शास्त्रादिका अध्ययन किया हो या न किया हो परन्तु यदि वह स्वरादिके स्वरूपको पहचानता है तो वह चतुर है। वैसे ही किसीने शास्त्राभ्यास किया हो या न किया हो पर यदि उसे जीवके भावका भासन है तो वह सम्यग्दृष्टि है। पुण्य–पाप दुःखदायक है, अधर्म है; राग रहित परिणाम शान्ति दायक है; मैं शुद्ध ज्ञायक

हूँ, तथा शरीर, कर्म आदि अजीव हैं।—जिसे इस प्रकार भाव-भासन हो वही सम्यग्दृष्टि है। कदाचित् वर्तमानमें शास्त्रका बहुत अभ्यास न हो तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है। १५३.

*

आत्मामें जो पंच महाव्रत–भक्ति आदिके परिणाम होते हैं सो शुभराग है, आस्रव है। उस रागको आस्रव मानना व उसे ही संवर भी मानना तो भ्रम है। एक शुभराग है—वह आस्रव और संवर दोनोंका ही कारण कैसे हो सकता है? मिश्र भावका ज्ञान तो सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दृष्टिको भी जितना रागांश है, वह धर्म नहीं है। राग रहित व सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकतारूप भाव ही धर्म है। "मैं ज्ञायक हूँ" ऐसे स्वभावकी श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक जितना वीतरागभाव हुआ उतना संवर धर्म है; तथा उसी समय जो रागांश है सो आस्रव है। एक ही समयमें ऐसे दोनों भाव मिश्ररूप हैं। धर्मी जीव उन दोनोंको भिन्न–भिन्न पहचानता है। प्रथम व्यवहार व बादमें निश्चय—ऐसा नहीं है। व्यवहारका शुभराग तो आस्रव है। आस्रव, संवरका कारण कैसे हो सकता है?

प्रथम व्यवहार (करो) और वह व्यवहार करते–करते निश्चय होता है—इस दृष्टिके कारण ही तो सनातन जैन-परम्परासे भटक कर श्वेताम्बर हुए हैं। और दिगम्बर सम्प्रदायमें रहकर भी यदि कोई ऐसा माने कि राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते–करते निश्चय होगा—तो ऐसी मान्यतावाले श्वेताम्बर जैसे ही अभिप्रायवाले हैं, उन्हें

' दिगम्बर जैन धर्म ' का पता ही नहीं है। ९५५.

*

पर्यायमें अपने ही कारणसे अशुद्धता है—ऐसा न मानकर, यों माने कि अकेला आत्मा ही शुद्ध है, तो वह निश्चयाभासी है। भक्ति आदिका राग तो मुनिको भी आता है, फिर भी ऐसा माननेवाला कि निचली भूमिकामें वैसा राग नहीं होता—निश्चयाभासी है। तथा जो राग होता है उसे आदरणीय माननेवाला व्यवहाराभासी है। —वे दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं।

चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त असिद्धत्वभाव होता है—जो ऐसा न माने तो वास्तवमें निश्चयको ही नहीं जाना। यहाँ निश्चयावलम्बीका अर्थ निश्चयको जानना नहीं है परन्तु ऐसा अर्थ है कि निश्चयकी बातें करता है लेकिन निश्चयको यथार्थरूपसे नहीं जानता। यदि कोई जीव निश्चयाभासके श्रद्धानवाला होकर अपनेको मोक्षमार्गी माने तो वह तो निश्चय-व्यवहार—दोनों ही को यथार्थरूपसे नहीं जानता। ९७४.

*

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं तो उनमें बंधन नहीं है—क्या ऐसा कहा जा सकता है ? जो यदि बंधन न हो तो मोक्षमार्गी उनके नाशका उद्यम क्यों करते हैं ?

जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी तो मानता है कि ' स्त्री देह हो फिर भी मुक्ति होती है ' वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको नहीं मानता। स्त्री, तो तीन कालमें भी छट्ठे गुणस्थान

तक नहीं चढ़ पाती—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। क्योंकि स्त्री-देहमें रहे हुए जीवकी ऐसी ही योग्यता होती है तथा ऐसा न स्वीकार करनेवाला गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

वीतराग-मार्ग तो अलौकिक है। लोग निज-कल्पनासे जैसा मानते हैं वैसा यह मार्ग नहीं है। आँखमें कण एक बार भले ही सहन हो जाए, परन्तु सच्चे मार्गमें तिल-भर भूल भी नहीं चलती—यह समझ लेना चाहिए।

आत्मामें भाव-बंधन ही न हो तो सम्यग्दष्टि ज्ञानानन्द स्वभावमें स्थिर होकर विकारका नाश किसलिए करता है? अतः पर्यायमें बन्धन है—ऐसा समझ लेना चाहिए। ९८०.

*

सम्यग्दष्टि निर्विकल्प-अनुभवमें नहीं रह सकते, इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यासके भाव उठते हैं—ऐसे शुभरागको, निर्विकल्प-अनुभवकी अपेक्षा हेय कहा है। निर्विकल्प-अनुभवमें रहना तो सर्वोत्तम है। परन्तु छद्मस्थका उपयोग निचली दशामें 'आत्मस्वरूपमें' अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता, अतः ज्ञानकी विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यासमें बुद्धि लगाना योग्य है। निश्चयाभासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है। परन्तु अरे भाई! तुझे अन्य राग तो आते हैं तो फिर शास्त्राभ्यास ही में उपयोग लगाना योग्य है। उसमें जो राग है सो तो दोष है, परन्तु तीव्र (अप्रशस्त) रागकी अपेक्षा शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहना योग्य है।

सम्यग्दर्शन होने पर कोई पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी राग तो आता है। हाँ, जो निर्विकल्प आनन्दमें ज्ञानपर्याय एकाग्र हो जाए

तो श्रेयस्कर है, परन्तु जब निर्विकल्प आनन्दमें न रह सके तब स्वाध्याय-पूजा, देव-गुरुकी भक्ति आदि प्रशस्त राग-कार्योंको छोड़कर, विकथा आदि निंदनीय प्रवृत्तियोंमें लगनेसे तो महान् अनर्थ होता है। ९८३.

*

किसी ज्ञानीका धारणाज्ञान अल्प भी हो परन्तु प्रयोजनभूतज्ञान तो समीचीन होता है, अतः विरोध नहीं होता। वह कदाचित् विशेष स्पष्टीकरण न कर सके, परन्तु उसे स्वभावकी अपेक्षा तथा परकी उपेक्षा होनेसे, ज्ञान प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल होता जाता है। उसे सामान्यकी तुलनामें अधिक बलवान समझना चाहिए। ९८५.

*

आत्माका स्वरूप परिपूर्ण है—ऐसा अंतरभान न हुआ, और पुण्य छोड़कर पापमें प्रवर्तन करे तथा शास्त्रकी ओट लेकर कहे कि 'मुझे भी सम्यग्दृष्टिके समान बन्धन नहीं है' तो वह निश्चयाभासी-मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानीको तो पर्यायका विवेक वर्तता है। ९८८.

*

स्व-पर जानना कोई उपाधि नहीं है तथा विकारका कारण भी नहीं है। अज्ञानी कहता है कि 'मुझे परद्रव्यको जाननेसे रागादि होते हैं, अतः किसीको भी पर द्रव्यका लक्ष्य नहीं करना चाहिए'...तो वह स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानकी स्वच्छताको ही नहीं जानता। ज्ञानी तो जो कुछ भी जानता है उसे सम्यग्ज्ञानकी स्वच्छता ही समझता है, उसमें रागका अभिप्राय नहीं होता। अतः उसे ज्ञाताभावसे जितना ज्ञान होता

है उतनी ही वीतरागता है। ९९१.

*

चैतन्यके अनुभवकी खुमारी—धर्मीका चित्त—अन्य कहीं नहीं लगने देती। वह तो स्वानुभवके शान्त रससे तृप्त-तृप्त है। वह तो चैतन्यके आनन्दकी मस्तीमें इतना मस्त है कि अब अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहा। १००१.

*

अहो! महान् संत-मुनिवरोंने जंगलमें रहकर आत्म-स्वभावका अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। आचार्यदेव तो धर्मके स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्मको जीवन्त कर रखा है...गजबका काम किया है! साधकदशामें स्वरूपकी शान्ति-वेदन करते हुए परीषहोंको जीत कर, परम सत्‌को अक्षुण्णरूपसे जीवंत रखा है। आचार्यदेवके कथनमें केवलज्ञानकी झंकार गूँजती है। ऐसे महान् शास्त्रोंकी रचना कर उन्होंने बहुत जीवोंपर असीम उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो! पद-पदमें कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्यका शंखनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महा भाग्यकी बात है; तथा उसकी समझ तो मुक्तिका वरण करने जानेके लिए श्री-फल समान है; जो समझे उसका तो मोक्ष ही (होनेवाला) है। १००६.

अहो! श्री सत्पुरुषके वचनामृतं जगहितकरं।
मुद्रा अरु सत्समागम सुति चेतना जाग्रतकरं॥

—श्रीमद् राजचंद्रजी

'बहिनश्रीके वचनामृत'मेंसे उद्धृत रत्न

ज्ञानीकी परिणति सहज होती है। हर एक प्रसंगमें भेदज्ञानको याद करके उसे घोखना नहीं पड़ता, परन्तु उनके तो ऐसा सहज परिणमन ही हो जाता है—आत्मामें धारावाही परिणमन वर्तता ही रहता है। ३.

*

मुमुक्षुओं तथा ज्ञानियोंको अपवादमार्गका या उत्सर्ग-मार्गका आग्रह नहीं होता, परन्तु जिससे अपने परिणाममें आगे बढ़ा जा सके उस मार्गको ग्रहण करते हैं। किन्तु यदि एकान्त उत्सर्ग या एकान्त अपवादकी हठ करे तो उसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी ही खबर नहीं है। ११.

*

जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई उसकी दृष्टि अब चैतन्यके तल पर ही लगी है। उसमें परिणति एकमेक हो गई है। चैतन्य-तलमें ही सहज दृष्टि है। स्वानुभूतिके कालमें या बाहर उपयोग हो तब भी तल परसे दृष्टि नहीं हटती, दृष्टि बाहर जाती ही नहीं। ज्ञानी चैतन्यके पातालमें पहुँच गये हैं; गहरी-गहरी गुफामें, बहुत गहराई तक पहुँच गये हैं; साधनाकी सहज दशा साधी हुई है। १२.

*

ज्ञानीके अभिप्रायमें राग है वह जहर है, काला साँप है। अभी आसक्तिके कारण ज्ञानी थोड़े बाहर खड़े हैं, राग है, परन्तु अभिप्रायमें काला साँप लगता है। ज्ञानी विभावके

बीच खड़े होने पर भी विभावसे पृथक् हैं—न्यारे हैं। १९.

*

सम्यग्दृष्टिको ज्ञान–वैराग्यकी ऐसी शक्ति प्रगट हुई है कि गृहस्थाश्रममें होने पर भी, सभी कार्योंमें स्थित होने पर भी, लेप नहीं लगता, निर्लेप रहते हैं; ज्ञानधारा एवं उदयधारा दोनों भिन्न परिणमती हैं; अल्प अस्थिरता है वह अपने पुरुषार्थकी कमजोरीसे होती है, उसके भी ज्ञाता रहते हैं। ३१.

*

सम्यग्दृष्टिको आत्माके सिवा बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता, जगतकी कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। जिसे चैतन्यकी महिमा एवं रस लगा है उसको बाह्य विषयोंका रस टूट गया है, कोई पदार्थ सुन्दर या अच्छा नहीं लगता। अनादि अभ्यासके कारण, अस्थिरताके कारण अन्दर स्वरूपमें नहीं रहा जा सकता इसलिये उपयोग बाहर आता है परन्तु रसके बिना—सब निःसार, छिलकोंके समान, रस–कस शून्य हो ऐसे भावसे—बाहर खड़े हैं। ३२.

*

सहज दशाको विकल्प करके नहीं बनाये रखना पड़ता। यदि विकल्प करके बनाये रखना पड़े तो वह सहज दशा ही नहीं है। तथा प्रगट हुई दशाको बनाये रखनेका कोई अलग पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि बढ़नेका पुरुषार्थ करता है जिससे वह दशा तो सहज ही बनी रहती है। ३९.

*

साधक दशामें शुभ भाव बीचमें आते हैं, परन्तु साधक

उन्हें छोड़ता जाता है; साध्यका लक्ष नहीं चूकता।—जैसे मुसाफिर एक नगरसे दूसरे नगर जाता है तब बीचमें अन्य-अन्य नगर आयें उन्हें छोड़ता जाता है, वहाँ रुकता नहीं है; जहाँ जाना है वहींका लक्ष रहता है। ४०.

*

अंतरका तल खोजकर आत्माको पहिचान। शुभ परिणाम, धारणा आदिका थोड़ा पुरुषार्थ करके 'मैंने बहुत किया है' ऐसा मानकर, जीव आगे बढ़नेके बदले अटक जाता है। अज्ञानीको जरा कुछ आ जाय, धारणासे याद रह जाय, वहाँ उसे अभिमान हो जाता है; क्योंकि वस्तुके अगाध स्वरूपका उसे ख़याल ही नहीं है; इसलिये वह बुद्धिके विकास आदिमें संतुष्ट होकर अटक जाता है। ज्ञानीको पूर्णताका लक्ष होनेसे वह अंशमें नहीं अटकता। पूर्ण पर्याय प्रगट हो तो भी स्वभाव था सो प्रगट हुआ इसमें नया क्या है? इसलिये ज्ञानीको अभिमान नहीं होता। ४५.

*

ज्ञानीको दृष्टि-अपेक्षासे चैतन्य एवं रागकी अत्यन्त भिन्नता भासती है, यद्यपि वे ज्ञानमें जानते हैं कि राग चैतन्यकी पर्यायमें होता है। ५८.

*

बाह्यमें सब कुछ हो उसमें—भक्ति-उल्लासके कार्य हों उनमें भी—आत्माका आनन्द नहीं है। जो तलमेंसे आये वही आनन्द सच्चा है। ६६.

*

धन्य वह निर्ग्रन्थ मुनिदशा! मुनिदशा अर्थात्

केवलज्ञानकी तलहटी। मुनिको अन्तरमें चैतन्यके अनन्त गुण–पर्यायोंका देहमात्र परिग्रह होता है; विभाव बहुत छूट गया होता है। बाह्यमें श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारण-भूतपनेसे देहमात्र परिग्रह होता है। प्रतिबन्धरहित सहज दशा होती है; शिष्योंको बोध देनेका अथवा ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। स्वरूपमें लीनता वृद्धिंगत होती है। ७१.

*

अखण्ड द्रव्यको ग्रहण करके प्रमत्त–अप्रमत्त-स्थितिमें झूले वह मुनिदशा। मुनिराज स्वरूपमें निरन्तर जागृत हैं। मुनिराज जहाँ जागते हैं वहाँ जगत सोता है, जगत जहाँ जागता है वहाँ मुनिराज सोते हैं। ‘मुनिराज जो निश्चय-नयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ति करें’। ७२.

*

द्रव्य तो निवृत्त ही है। उसका दृढ़तासे अवलम्बन लेकर भविष्यके विभावसे भी निवृत्त होओ। मुक्ति तो जिनके हाथमें आ गई है ऐसे मुनियोंको भेदज्ञानकी तीक्ष्णतासे प्रत्याख्यान होता है। ७३.

*

जिन्होंने चैतन्यधामको पहिचान लिया है वे स्वरूपमें ऐसे सो गये कि बाहर आना अच्छा ही नहीं लगता। जैसे अपने महलमें सुखसे रहनेवाले चक्रवर्ती राजाको बाहर निकलना सुहाता ही नहीं, वैसे ही जो चैतन्य-महलमें विराज गये हैं उन्हें बाहर आना कठिन लगता है, भाररूप लगता है; आँखसे रेत उठवाने जैसा दुष्कर लगता है। जो स्वरूपमें

ही आसक्त हुआ उसे बाहरकी आसक्ति टूट गई है। ७५.

*

स्वरूपकी लीला जात्यन्तर है। मुनिराज चैतन्यके बागमें क्रीड़ा करते–करते कर्मके फलका नाश करते हैं। बाह्यमें आसक्ति थी उसे तोड़कर स्वरूपमें मंथर—स्वरूपमें लीन—हो गये हैं। स्वरूप ही उनका आसन, स्वरूप ही निद्रा, स्वरूप ही आहार है; वे स्वरूपमें ही लीला, स्वरूपमें ही विचरण करते हैं। सम्पूर्ण श्रामण्य प्रगट करके वे लीला-मात्रमें श्रेणी माँड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। ७८.

*

'मुझे परकी चिन्ताका क्या प्रयोजन? मेरा आत्मा सदैव अकेला है' ऐसा ज्ञानी जानते हैं। भूमिकानुसार शुभ भाव आयें परन्तु अन्तरमें एकाकीपनेकी प्रतीतिरूप परिणति निरन्तर बनी रहती है। ८७.

*

मुनिराजको एकदम स्वरूपरमणता जागृत है। स्वरूप कैसा है? ज्ञान, आनन्दादि गुणोंसे निर्मित है। पर्यायमें समताभाव प्रगट है। शत्रु–मित्रके विकल्प रहित है; निर्मानता है; 'देह जाय पर माया होय न रोममें;' सोना हो या तिनका—दोनों समान हैं। चाहे जैसे संयोग हों—अनुकूलतामें आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलतामें खेद नहीं करते। ज्यों–ज्यों आगे बढ़े त्यों–त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है। ८९.

*

अहा! आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करनेसे मुनियोंको वैराग्य उछल पड़ता है। मुनि

शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र कोनिहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं। ९१.

*

ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्यसामान्य पर ही स्थिर रहती है, भेदज्ञानकी धारा सतत वहती है। ९३.

*

मुनि असंगरूपसे आत्माकी साधना करते हैं, स्वरूप-गुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनिका भावलिंग है। ९५.

*

सम्यग्दृष्टिको ऐसा निःशंक गुण होता है कि चौदह ब्रह्माण्ड उलट जाँय तथापि अनुभवमें शंका नहीं होती। १०१.

*

यदि वर्तमानमें ही चैतन्यमें सम्पूर्णरूपसे स्थिर हुआ जा सकता हो तो दूसरा कुछ नहीं चाहिये ऐसी भावना सम्यग्दृष्टिके होती है। १०३.

*

मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें स्वभावमें डुबकी लगाते हैं। अन्तरमें निवासके लिये महल मिल गया है, उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता। मुनि किसी प्रकारका बोझ नहीं लेते। अन्दर जायें तो अनुभूति और बाहर आयें तो तत्त्वचिंतन आदि। साधकदशा इतनी बढ़ गई है कि द्रव्यसे तो कृतकृत्य हैं ही परन्तु पर्यायमें भी अत्यन्त कृतकृत्य हो गये हैं। ११३.

*

निरालम्ब चलना वह वस्तुका स्वभाव है। तू किसीके आश्रय विना चैतन्यमें चला जा। आत्मा सदा अकेला ही है, आप स्वयंभू है। मुनियोंके मनकी गति निरालम्ब है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी निरालम्बी चाल प्रगट हुई उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। ११७.

*

आत्मा तो ज्ञाता है। आत्माकी ज्ञातृत्वधाराको कोई रोक नहीं सकता। भले रोग आये या उपसर्ग आये, आत्मा तो निरोग और निरुपसर्ग है। उपसर्ग आया तो पांडवोंने अन्तरमें लीनता की, तीनने तो केवलज्ञान प्रगट किया। अटके तो अपनेसे अटकता है, कोई अटकाता नहीं है। १२८.

*

ज्ञानी चैतन्यकी शोभा निहारनेके लिये कुतूहलबुद्धि-वाले—आतुर होते हैं। अहा! उन परम पुरुपार्थी महा-ज्ञानियोंकी दशा कैसी होगी जो अन्दर जाने पर बाहर आते ही नहीं! धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े। १३३.

*

मुनिने सर्व विभावों पर विजय पाकर प्रव्रज्यारूप साम्राज्य प्राप्त किया है। विजयपताका फहरा रही है। १३४.

*

अज्ञानी जीवको अनादि कालसे विभावका अभ्यास है; मुनिको स्वभावका अभ्यास वर्तता है। स्वयंने अपनी सहज दशा प्राप्त की है। उपयोग जरा भी बाहर जाय कि तुरन्त सहजरूपसे अपनी ओर ढल जाता है। बाहर आना पड़े वह बोझ—उपाधि लगती है। मुनियोंको अन्तरमें सहज

दशा—समाधि है। १४१.

*

सम्यग्दर्शन होते ही जीव चैतन्यमहलका स्वामी बन गया। तीव्र पुरुषार्थीको महलका अस्थिरतारूप कचरा निकालनेमें कम समय लगता है, मन्द पुरुषार्थीको अधिक समय लगता है; परन्तु दोनों अल्प-अधिक समयमें सब कचरा निकालकर केवलज्ञान अवश्य प्राप्त करेंगे ही। १६८.

*

विभावोंमें और पाँच परावर्तनोंमें कहीं विश्रान्ति नहीं है। चैतन्यगृह ही सच्चा विश्रान्तिगृह है। मुनिवर उसमें बारम्बार निर्विकल्परूपसे प्रवेश करके विशेष विश्राम पाते हैं। बाहर आये नहीं कि अन्दर चले जाते हैं। १६९.

*

जैसे कोई राजमहलको पाकर फिर बाहर आये तो खेद होता है, वैसे ही सुखधाम आत्माको प्राप्त करके बाहर आ जाने पर खेद होता है। शान्ति और आनन्दका स्थान आत्मा ही है, उसमें दुःख एवं मलिनता नहीं है—ऐसी दृष्टि तो ज्ञानीको निरन्तर रहती है। १७२.

*

‘ मैं हूँ चैतन्य ’। जिसे घर नहीं मिला है ऐसे मनुष्यको बाहर खड़े-खड़े बाहरकी वस्तुएँ, धमाल देखने पर अशान्ति रहती है; परन्तु जिसे घर मिल गया है उसे घरमें रहते हुए बाहरकी वस्तुएँ, धमाल देखने पर शान्ति रहती है; उसी प्रकार जिसे चैतन्य-घर मिल गया है, दृष्टि

प्राप्त हो गई है, उसे उपयोग बाहर जाय तब भी शान्ति रहती है। १७४.

*

साधक जीवको अपने अनेक गुणोंकी पर्यायें निर्मल होती हैं, खिलती हैं। जिस प्रकार नन्दनवनमें अनेक वृक्षोंके विविध प्रकारके पत्र-पुष्प-फलादि खिल उठते हैं, उसी प्रकार साधक आत्माको चैतन्यरूपी नन्दनवनमें अनेक गुणोंकी विविध प्रकारकी पर्यायें खिल उठती हैं। १७५.

*

चैतन्यकी स्वानुभूतिरूप खिले हुए नन्दनवनमें साधक आत्मा आनन्दमय विहार करता है। बाहर आने पर कहीं रस नहीं आता। १७७.

*

निर्विकल्प दशामें 'यह ध्यान है, यह ध्येय है' ऐसे विकल्प टूट चुकते हैं। यद्यपि ज्ञानीको सविकल्प दशामें भी दृष्टि तो परमात्मतत्त्व पर ही होती है, तथापि पंच-परमेष्ठी, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि सम्बन्धी विकल्प भी होते हैं; परन्तु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्पजाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प नहीं रहते। उग्र निर्विकल्प दशामें ही मुक्ति है।—ऐसा मार्ग है। १८१.

*

मुनिराज कहते हैं:—चैतन्यपदार्थ पूर्णतासे भरा है। उसके अन्दर जाना और आत्मसम्पदाकी प्राप्ति करना वही हमारा विषय है। चैतन्यमें स्थिर होकर अपूर्वताकी प्राप्ति नहीं की, अवर्णनीय समाधि प्राप्त नहीं की, तो हमारा जो

विषय है वह हमने प्रगट नहीं किया। बाहरमें उपयोग आता है तब द्रव्य–गुण–पर्यायके विचारोंमें रुकना होता है, किन्तु वास्तवमें वह हमारा विषय नहीं है। आत्मामें नवीनताओंका भण्डार है। भेदज्ञानके अभ्यास द्वारा यदि वह नवीनता—अपूर्वता प्रगट नहीं की, तो मुनिपनेमें जो करना था वह हमने नहीं किया। १८५.

*

गृहस्थाश्रममें वैराग्य होता है परन्तु मुनिराजका वैराग्य कोई और ही होता है। मुनिराज तो वैराग्यमहलके शिखरके शिखामणि हैं। १८६.

*

मुनि आत्माके अभ्यासमें परायण हैं। वे बारम्बार आत्मामें जाते हैं। सविकल्प दशामें भी मुनिपनेकी मर्यादा लाँघकर विशेष बाहर नहीं जाते। मर्यादा छोड़कर विशेष बाहर जायँ तो अपनी मुनिदशा ही न रहे। १८७.

*

जो न हो सके वह कार्य करनेकी बुद्धि करना मूर्खताकी बात है। अनादिसे यह जीव जो नहीं हो सकता उसे करनेकी बुद्धि करता है और जो हो सकता है वह नहीं करता। मुनिराजको परके कर्तृत्वकी बुद्धि तो छूट गई है और आहार–विहारादिके अस्थिरतारूप विकल्प भी बहुत ही मंद होते हैं। उपदेशका प्रसंग आये तो उपदेश देते हैं, परन्तु विकल्पका जाल नहीं चलता। १८८.

*

दृष्टिकी डोर हाथमें रख। सामान्य स्वरूपको ग्रहण

कर, फिर भले ही सब ज्ञान हो। ऐसा करते-करते अंतरमें विशेष लीनता होगी, साधक दशा बढ़ती जायगी। देशव्रत और महाव्रत सामान्य स्वरूपके आलम्बनसे आते हैं; मुख्यता निरन्तर सामान्य स्वरूपकी—द्रव्यकी होती है। १९१.

*

आत्मा तो निवृत्तस्वरूप—शान्तस्वरूप है। मुनिराजको उसमेंसे बाहर आना प्रवृत्तिरूप लगता है। उच्चसे उच्च शुभभाव भी उन्हें बोझरूप लगते हैं — मानों पर्वत उठाना हो। शाश्वत आत्माकी ही उग्र धुन लगी है। आत्माके प्रचुर स्वसंवेदनमेंसे बाहर आना नहीं सुहाता। १९२.

*

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकको ज्ञायक द्वारा ही अपनेमें धारण कर रखता है, टिकाए रखता है, स्थिर रखता है — ऐसी सहज दशा होती है।

सम्यग्दृष्टि जीवको तथा मुनिको भेदज्ञानकी परिणति तो चलती ही रहती है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थको उसकी दशाके अनुसार उपयोग अंतरमें जाता है और बाहर आता है; मुनिराजको तो उपयोग अति शीघ्रतासे बारम्बार अंतरमें उतर जाता है। भेदज्ञान कीपरिणति — ज्ञातृत्वधारा—दोनोंके चलती ही रहती है। उन्हें भेदज्ञान प्रगट हुआ तबसे कोई काल पुरुषार्थ रहित नहीं होता। अविरत सम्यग्दृष्टिको चौथे गुणस्थानके अनुसार और मुनिको छठवें-सातवें गुणस्थानके अनुसार पुरुषार्थ वर्तता रहता है। पुरुषार्थके बिना कहीं परिणति स्थिर नहीं रहती। सहज भी है, पुरुषार्थ भी है। १९३.

*

जीवको अटकनेके जो अनेक प्रकार हैं उन सबमेंसे विमुख हो और मात्र चैतन्यदरबारमें ही उपयोगको लगा दे; अवश्य प्राप्ति होगी ही। अनन्त-अनन्त कालसे अनन्त जीवोंने इसी प्रकार पुरुषार्थ किया है; इसलिये तू भी ऐसा कर।

अनन्त-अनन्त काल गया, जीव कहीं न कहीं अटकता ही है न? अटकनेके तो अनेक-अनेक प्रकार हैं; किन्तु सफल होनेका एक ही प्रकार है—वह है चैतन्यदरबारमें जाना। स्वयं कहाँ अटकता है उसका यदि स्वयं खयाल करे तो बराबर जान सकता है।

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी जीव कहीं सूक्ष्मरूपसे अटक जाता है, शुभ भावकी मिठासमें रुक जाता है; 'यह रागकी मन्दता, यह अट्ठाईस मूलगुण,—बस यही मैं हूँ, यही मोक्षका मार्ग है,' इत्यादि किसी प्रकार संतुष्ट होकर अटक जाता है; परन्तु यह अन्तरमें विकल्पोंके साथ एकताबुद्धि तो पड़ी ही है उसे क्यों नहीं देखता? अन्तरमें यह शान्ति क्यों नहीं दिखायी देती? पापभावको त्यागकर 'सर्वस्व कर लिया' मानकर सन्तुष्ट हो जाता है। सच्चे आत्मार्थीको तथा सम्यग्दृष्टिको तो 'अभी बहुत बाकी है, बहुत बाकी है'—इस प्रकार पूर्णता तक बहुत बाकी है ऐसी ही भावना रहती है और तभी पुरुषार्थ अखण्ड रह पाता है।

गृहस्थाश्रममें सम्यक्त्वीने मूलको पकड़ लिया है, (दृष्टि-अपेक्षासे) सब कुछ कर लिया है, अस्थिरतारूप शाखाएँ-पत्ते जरूर सूख जायँगे। द्रव्यलिंगी साधुने मूलको ही नहीं पकड़ा है, उसने कुछ किया ही नहीं। बाह्यदृष्टि

लोगोंको ऐसा भले ही लगे कि 'सम्यक्त्वीको अभी बहुत बाकी है और द्रव्यलिंगी मुनिने बहुत कर लिया;' परन्तु ऐसा नहीं है। परीषह सहन करे किन्तु अन्तरमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं टूटी, आकुलताका वेदन होता है, उसने कुछ किया ही नहीं। १९९.

*

ज्ञानीने चैतन्यका अस्तित्व ग्रहण किया है। अभेदमें ही दृष्टि है: 'मैं तो ज्ञानानन्दमय एक वस्तु हूँ'। उसे विश्रान्तिका महल मिल गया है, जिसमें अनन्त आनन्द भरा है। शान्तिका स्थान, आनन्दका स्थान — ऐसा पवित्र उज्ज्वल आत्मा है। वहाँ — ज्ञायकमें — रहकर ज्ञान सब करता है परन्तु दृष्टि तो अभेद पर ही है। ज्ञान सब करता है परन्तु दृष्टिका जोर इतना है कि अपनेको अपनी ओर खींचता है। २०६.

*

लोगोंका भय त्याग कर, शिथिलता छोड़कर, स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना चाहिए। 'लोग क्या कहेंगे' ऐसा देखनेसे चैतन्यलोकमें नहीं पहुँचा जा सकता। साधकको एक शुद्ध आत्माका ही सम्बन्ध होता है। निर्भयरूपसे उग्र पुरुषार्थ करना, बस! वही लोकाग्रमें जानेवाला साधक विचारता है। २१३.

*

कोई एकान्तमें निवास करनेवाला — एकान्तप्रिय — मनुष्य हो, उसे जबरन् बाह्य कार्यमें लगना पड़े तो वह ऊपरी दृष्टिसे लगता हुआ दिखता अवश्य है, परन्तु कौन जानता है कि वह बाह्यमें आया है या नहीं!! अथवा कोई अति दुर्बल मनुष्य हो और उसके सिर पर कोई

कार्यका बोझ रख दे तो उसे कितना कठिन लगता है? उसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञानधारा वर्तनेके कारण बाह्य कार्योंमें लगना बोझरूप लगता है। २१८.

*

मुनि बारम्बार आत्माके उपयोगकी आत्मामें ही प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी दशा निराली, परके प्रतिबन्धसे रहित, केवल ज्ञायकमें प्रतिबद्ध, मात्र निजगुणोंमें ही रमणशील, निरालम्बी होती है। मुनिराज मोक्षपंथमें प्रयाण आरम्भ किया उसे पूर्ण करते हैं। २२२.

*

अंतरात्मा तो दिन और रात अन्तरंगमें आत्मा, आत्मा और आत्मा — ऐसा करते-करते, अन्तरात्मभावरूप परिणमते -परिणमते, परमात्मा हो जाता है। २२४.

*

मुनिको संयम, नियम और तप — सबमें आत्मा समीप होता है। अहा! तू तो आत्माकी साधना करने निकला है... वहाँ यह लौकिक जनोंके परिचयका रस क्यों?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःखसे छूटनेकी भावना हो, तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्माके संगमें रहना।

लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होनेका कारण होगा। विशेष गुणीका संग तेरे चैतन्यतत्त्वको निहारनेकी परिणतिमें विशेष वृद्धिका कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्संगमें तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे, परन्तु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्संग करेगा तो अपनी परिणति मन्द पड़ जायेगी।

—यह तो स्वरूपमें झूलते हुए मुनियोंको (आचार्यदेवकी) सीख है। निश्चय-व्यवहारकी संधि ही ऐसी है।... २२९.

*

आत्मा तो आश्चर्यकारी चैतन्यमूर्ति! प्रथम उसे चारों ओरसे पहिचानकर, पश्चात् नय-प्रमाणादिके पक्ष छोड़कर अंतरमें स्थिर हो जाना। तब अंतरसे ही मुक्त स्वरूप प्रगट होगा। स्वरूपमें स्थिर हुए ज्ञानी ही साक्षात् अतीन्द्रिय आनन्दामृतका अनुभव करते हैं— 'त एव साक्षात् अमृतं पिबन्ति'। २३०.

*

ज्ञाताका ध्यान करते-करते आत्मा ज्ञानमय हो गया, ध्यानमय हो गया — एकाग्रतामय हो गया। अंदर चैतन्यके नन्दनवनमें उसे सब कुछ मिल गया; अब बाहर क्यों जाये? ग्रहण करने योग्य आत्माको ग्रहण कर लिया, छोड़ने योग्य सब छूट गया; अब किसलिये बाहर जाये? २३२.

*

हे आत्मा! यदि तुझे विभावसे छूटकर मुक्तदशा प्राप्त करनी हो तो चैतन्यके अभेद स्वरूपको ग्रहण कर। द्रव्यदृष्टि सर्व प्रकारकी पर्यायको दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूपको ग्रहण करती है; द्रव्यदृष्टिके विषयमें गुणभेद भी नहीं होते। ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट कर।

ऐसी दृष्टिके साथ वर्तता हुआ ज्ञान वस्तुमें विद्यमान गुणों तथा पर्यायोंको, अभेद तथा भेदको, विविध प्रकारसे जानता है। लक्षण, प्रयोजन इत्यादि अपेक्षासे गुणोंमें भिन्नता

है और वस्तु-अपेक्षासे अभेद है ऐसा ज्ञान जानता है। 'इस आत्माकी यह पर्याय प्रगट हुई, यह सम्यग्दर्शन हुआ, यह मुनिदशा हुई, यह केवलज्ञान हुआ'— इस प्रकार सब महिमावन्त पर्यायोंको तथा अन्य सर्व पर्यायोंको ज्ञान जानता है। ऐसा होने पर भी शुद्ध दृष्टि (सामान्यके सिवा) किसी प्रकारमें नहीं रुकती।

साधक जीवको भूमिकानुसार देव–गुरुकी महिमाके, श्रुतचिन्तवनके, अणुव्रत–महाव्रतके इत्यादि विकल्प होते हैं, परन्तु वे ज्ञायकपरिणतिको भाररूप हैं क्योंकि स्वभावसे विरुद्ध हैं। अपूर्ण दशामें वे विकल्प होते हैं; स्वरूपमें एकाग्र होने पर, निर्विकल्प स्वरूपमें निवास होने पर, वे सब छूट जाते हैं। पूर्ण वीतराग दशा होने पर सर्व प्रकारके रागका क्षय होता है।

—ऐसी साधकदशा प्रगट करने योग्य है। २३७.

*

शुभका व्यवहार भी असार है, उसमें रुकने जैसा नहीं है। कोई मनुष्य नगरका ध्येय बनाकर चलने लगे तो बीच–बीचमें ग्राम, खेत, वृक्षादि सब आते हैं, परन्तु वह सब छोड़ता जाता है; उसी प्रकार साधकको यह शुभादिका व्यवहार बीचमें आता है परन्तु साध्य तो पूर्ण शुद्धात्मा ही है। इसलिये वह व्यवहारको छोड़ता हुआ पूर्ण शुद्धात्मस्वरूपमें ही पहुँच जाता है। २३९.

*

आयुधशालामें चक्ररत्न प्रगट हुआ हो, फिर चक्रवर्ती आरामसे बैठा नहीं रहता, छह खण्डको साधने जाता है;

उसी प्रकार यह चैतन्यचक्रवर्ती जागृत हुआ, सम्यग्दर्शनरूपी चक्ररत्न प्राप्त हुआ, अब तो अप्रमत्त भावसे केवलज्ञान ही लेगा। २४६.

*

मुनियोंको अन्तरमें पग-पग पर—पुरुषार्थकी पर्याय-पर्यायमें— पवित्रता झरती है। २५०.

*

साधकदशाकी साधना ऐसी कर कि जिससे तेरा साध्य पूरा हो। साधकदशा भी अपना मूल स्वभाव तो है नहीं। वह भी प्रयत्नरूप अपूर्ण दशा है, इसलिये वह अपूर्ण दशा भी रखने योग्य तो है ही नहीं। २५६.

*

साधना करनेवालेको कोई स्पृहा नहीं होती। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिये, एक आत्मा ही चाहिये। इस क्षण वीतरागता होती हो तो दूसरा कुछ ही नहीं चाहिये; परन्तु अन्तरमें नहीं रहा जाता, इसलिये बाहर आना पड़ता है। अभी केवलज्ञान होता हो तो बाहर ही न आयें। २६३.

*

ज्ञानी द्रव्यके आलम्बनके बलसे, ज्ञानमें निश्चय-व्यवहारकी मैत्रीपूर्वक, आगे बढ़ता जाता है और चैतन्य स्वयं अपनी अद्‌भुततामें समा जाता है। २६७.

*

बाह्य रोग आत्माकी साधक दशाको नहीं रोक सकते, आत्माकी ज्ञातृत्वधाराको नहीं तोड़ सकते। पुद्‌गलपरिणतिरूप उपसर्ग कहीं आत्मपरिणतिको नहीं बदल सकते। २६८.

*

यह जो बाह्य लोक है उससे चैतन्यलोक पृथक् ही है। बाह्यमें लोग देखते हैं कि 'इन्होंने ऐसा किया, ऐसा किया,' परन्तु अन्तरमें ज्ञानी कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, वह तो ज्ञानी स्वयं ही जानते हैं। बाहरसे देखनेवाले मनुष्योंको ज्ञानी बाह्यमें कुछ क्रियाएँ करते या विकल्पोंमें पड़ते दिखाई देते हैं, परन्तु अन्तरमें तो वे कहीं चैतन्य-लोककी गहराईमें विचरते हैं। २८२.

*

द्रव्य तो अनन्त शक्तियोंका स्वामी है, महान है, प्रभु है। उसके सामने साधककी पर्याय अपनी पामरता स्वीकार करती है। साधकको द्रव्य-पर्यायमें प्रभुता और पामरताका ऐसा विवेक वर्तता है। २८३.

*

साधक दशा तो अधूरी है। साधकको जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, और चैतन्य आनन्दधाममें पूर्णरूपसे सदाके लिये विराजमान न हो जाय, तब तक पुरुषार्थकी धारा तो उग्र ही होती जाती है। केवलज्ञान होने पर एक समयका उपयोग होता है और वह एक समयकी ज्ञानपर्याय तीन काल एवं तीन लोकको जान लेती है। २८४.

*

जिस समय ज्ञानीकी परिणति बाहर दिखाई दे उसी समय उन्हें ज्ञायक भिन्न वर्तता है। जैसे किसीको पड़ौसीके साथ बड़ी मित्रता हो, उसके घर जाता-आता हो, परन्तु वह पड़ौसीको अपना नहीं मान लेता, उसी प्रकार ज्ञानीको विभावमें कभी एकत्वपरिणमन नहीं होता। ज्ञानी सदा

कमलकी भाँति निर्लेप रहते हैं, विभावसे भिन्नरूप ऊपर–ऊपर तेरते हैं। २९२.

*

ज्ञानीको तो ऐसी ही भावना होती है कि इस समय पुरुषार्थ चले तो इसी समय मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लें। बाहर आना पड़े वह अपनी निर्बलताके कारण है। २९३.

*

ज्ञानीको 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसी धारावाही परिणति अखण्डित रहती है। वे भक्ति–शास्त्रस्वाध्याय आदि बाह्य प्रसंगोंमें उल्लासपूर्वक भाग लेते दिखायी देते हैं तब भी उनकी ज्ञायकधारा तो अखण्डितरूपसे अन्तरमें भिन्न ही कार्य करती रहती है। २९४.

*

यद्यपि दृष्टि-अपेक्षासे साधकको किसी पर्यायका या गुणभेदका स्वीकार नहीं है तथापि उसे स्वरूपमें स्थिर हो जानेकी भावना तो वर्तती है। रागांशरूप बहिर्मुखता उसे दुःखरूपसे वेदनमें आती है और वीतरागता-अंशरूप अंतर्मुखता सुखरूपसे वेदनमें आती है। जो आंशिक बहिर्मुख वृत्ति वर्तती हो उससे साधक न्यारा का न्यारा रहता है। आँखमें किरकिरी नहीं समाती उसी प्रकार चैतन्यपरिणतिमें विभाव नहीं समाता। यदि साधकको बाह्यमें — प्रशस्त–अप्रशस्त रागमें — दुःख न लगे और अन्तरमें — वीतरागतामें — सुख न लगे तो वह अन्तरमें क्यों जाये? कहीं रागके विषयमें 'राग आग दहै' ऐसा कहा हो, कहीं प्रशस्त

रागको 'विषकुम्भ' कहा हो, चाहे जिस भाषामें कहा हो, सर्वत्र भाव एक ही है कि — विभावका अंश वह दुःखरूप है। भले ही उच्चमें उच्च शुभभावरूप या अतिसूक्ष्म रागरूप प्रवृत्ति हो तदापि जितनी प्रवृत्ति उतनी आकुलता है और जितना निवृत्त होकर स्वरूपमें लीन हुआ उतनी शान्ति एवं स्वरूपानन्द है। २९५.

*

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्माण्ड उलट जाये तब भी स्वयं नहीं पलटता; विभावके चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता। बाहरके प्रतिकूल संयोगसे ज्ञायकपरिणति नहीं बदलती; श्रद्धामें फेर नहीं पड़ता। पश्चात् क्रमशः चारित्र बढ़ता जाता है। २९८.

*

ज्ञानीको संसारका कुछ नहीं चाहिये; वे संसारसे भयभीत हैं। वे संसारसे विमुख होकर मोक्षके मार्ग पर चल रहे हैं। स्वभावमें सुभट हैं, अन्तरसे निर्भय हैं, किसीसे डरते नहीं हैं। किसी उपसर्गका भय नहीं है। मुझमें किसीका प्रवेश नहीं है — ऐसे निर्भय हैं। विभावको तो काले नागकी भाँति छोड़ दिया है। ३०२.

*

सम्यग्दृष्टिको अखण्ड तत्त्वका आश्रय है, अखण्ड परसे दृष्टि छूट जाये तो साधकपना ही न रहे। दृष्टि तो अन्तरमें है। चारित्रमें अपूर्णता है। वह बाहर खड़ा दिखायी दे परन्तु दृष्टि तो स्वमें ही है। ३०३.

*

मुनिराज वंदना–प्रतिक्रमणादिमें लाचारीसे युक्त होते हैं। केवलज्ञान नहीं होता इसलिये युक्त होना पडता है। भूमिकानुसार वह सब आता है परन्तु स्वभावसे विरुद्ध होनेके कारण उपाधिरूप लगता है। स्वभाव निष्क्रिय है उसमेंसे मुनिराजको बाहर आना नहीं सुहाता। जिसे जो कार्य न रुचे वह कार्य उसे भाररूप लगता है। ३१७.

*

ज्ञानीकी दृष्टि अखण्ड चैतन्यमें भेद नहीं करती। साथमें रहनेवाला ज्ञान विवेक करता है कि 'यह चैतन्यके भाव हैं, यह पर है'। दृष्टि अखण्ड चैतन्यमें भेद करनेको खड़ी नहीं रहती। दृष्टि ऐसे परिणाम नहीं करती कि 'इतना तो सही, इतनी कचास तो है'। ज्ञान सभी प्रकारका विवेक करता है। ३२२.

*

जिसने शान्तिका स्वाद चख लिया हो उसे राग नहीं पुसाता। वह परिणतिमें विभावसे दूर भागता है। जैसे एक ओर बर्फका ढ़ेर हो और दूसरी ओर अग्नि हो तो उन दोनोंके बीच खड़ा हुआ मनुष्य अग्निसे दूर भागता हुआ बर्फकी ओर ढ़लता है, उसी प्रकार जिसने थोड़ा भी सुखका स्वाद चखा है, जिसे थोड़ी भी शान्तिका वेदन वर्त रहा है ऐसा ज्ञानी जीव दाहसे अर्थात् रागसे दूर भागता है एवं शीतलताकी ओर ढ़लता है। ३२३.

*

ज्ञानीको स्वानुभूतिके समय या उपयोग बाहर आये तब दृष्टि तो सदा अंतःस्तल पर ही लगी रहती है। बाह्यमें

एकमेक हुआ दिखायी दे तब भी वह तो (दृष्टि-अपेक्षासे) गहरी अन्तर्गुफामेंसे बाहर निकलता ही नहीं। ३२५.

*

जिसने तलको स्पर्श किया उसे बाहर सब थोथा लगता है। चैतन्यके तलमें पहुँच गया वह चैतन्यकी विभूतिमें पहुँच गया। ३२६.

*

मुनिदशाका क्या कहना! मुनि तो प्रमत्त–अप्रमत्तपनेमें सदा झूलनेवाले हैं। उन्हें तो सर्वगुणसम्पन्न कहा जा सकता है। ३२८.

*

मुनिराज बारम्बार निर्विकल्परूपसे चैतन्यनगरमें प्रवेश करके अद्भुत ऋद्धिका अनुभव करते हैं। उस दशामें, अनन्त गुणोंसे भरपूर चैतन्यदेव भिन्न–भिन्न प्रकारकी चमत्कारिक पर्यायोंरूप तरंगोंमें एवं आश्चर्यकारी आनन्दतरंगोंमें डोलता है। मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि जीवका यह स्वसंवेदन कोई और ही है, वचनातीत है। वहाँ शून्यता नहीं है, जागृत-रूपसे अलौकिक ऋद्धिका अत्यन्त स्पष्ट वेदन है। तू वहाँ जा, तुझे चैतन्यदेवके दर्शन होंगे। ३२९.

*

अहो! मुनिराज तो निजात्मधाममें निवास करते हैं। उसमें विशेष–विशेष एकाग्र होते–होते वे वीतरागताको प्राप्त करते हैं।

वीतरागता होनेसे उन्हें ज्ञानकी अगाध अद्भुत शक्ति प्रगट होती है। ज्ञानका अन्तर्मुहूर्तका स्थूल उपयोग छूटकर

एक समयका सूक्ष्म उपयोग हो जाता है। वह ज्ञान अपने क्षेत्रमें रहकर सर्वत्र पहुँच जाता है—लोकालोकको जान लेता है, भूत–वर्तमान–भविष्यकी सर्व पर्यायोंको क्रम पड़े बिना एक समयमें वर्तमानवत् जानता है, स्वपदार्थ तथा अनन्त परपदार्थोंकी तीनों कालकी पर्यायोंके अनन्त–अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है। —ऐसे अचिन्त्य महिमावन्त केवलज्ञानको वीतराग मुनिराज प्राप्त करते हैं।...३३०

*

द्रव्यको ग्रहण करनेसे शुद्धता प्रगट हो, चारित्रदशा प्रगट हो, परन्तु ज्ञानी उन पर्यायोंमें नहीं रुकते। आत्मद्रव्यमें बहुत पड़ा है, बहुत भरा है, उस आत्मद्रव्यके ऊपरसे ज्ञानीकी दृष्टि नहीं हटती। यदि पर्यायमें रुकें, पर्यायमें चिपक जाएँ, तो मिथ्यात्वमें आ जायँ। ३३७.

*

अन्तरमें तू अपने आत्माके साथ प्रयोजन रख और बाह्यमें देव–शास्त्र–गुरुके साथ; बस, अन्यके साथ तुझे क्या प्रयोजन है?

जो व्यवहारसे साधनरूप कहे जाते हैं, जिनका आलम्बन साधकको आये विना नहीं रहता—ऐसे देव–शास्त्र–गुरुके आलम्बनरूप शुभ भाव भी परमार्थसे हेय हैं, तो फिर अन्य पदार्थ या अशुभ भावोंकी तो बात ही क्या? उनसे तुझे क्या प्रयोजन है?

आत्माकी मुख्यतापूर्वक देव–शास्त्र–गुरुका आलम्बन साधकको आता है। मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने भी

कहा है कि 'हे जिनेन्द्र! मैं किसी भी स्थान पर होऊँ (परन्तु) पुनः पुनः आपके पादपंकजकी भक्ति हो'!— ऐसे भाव साधकको आते हैं, और साथ ही साथ आत्माकी मुख्यता तो सतत बनी ही रहती है। ३४२.

*

जब तक सामान्य तत्त्व—ध्रुव तत्त्व—खयालमें न आये, तब तक अन्तरमें मार्ग कहाँसे सूझे और कहाँसे प्रगट हो? इसलिये सामान्य तत्त्वको खयालमें लेकर उसका आश्रय करना चाहिये। साधकको आश्रय तो प्रारम्भसे पूर्णता तक एक ज्ञायकका ही—द्रव्यसामान्यका ही—ध्रुव तत्त्वका ही होता है। ज्ञायकका—'ध्रुव'का जोर एक क्षण भी नहीं हटता। दृष्टि ज्ञायकके सिवा किसीको स्वीकार नहीं करती—ध्रुवके सिवा किसी पर ध्यान नहीं देती; अशुद्ध पर्याय पर नहीं, शुद्ध पर्याय पर नहीं, गुण भेद पर नहीं। यद्यपि साथ वर्तता हुआ ज्ञान सबका विवेक करता है, तथापि दृष्टिका विषय तो सदा एक ध्रुव ज्ञायक ही है, वह कभी छूटता नहीं है। ३४४.

*

'द्रव्यसे परिपूर्ण महाप्रभु हूँ, भगवान हूँ, कृतकृत्य हूँ' ऐसा मानते होने पर भी 'पर्यायमें तो मैं पामर हूँ' ऐसा महामुनि भी जानते हैं।

गणधरदेव भी कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्र! मैं आपके ज्ञानको नहीं पा सकता। आपके एक समयके ज्ञानमें समस्त लोकालोक तथा अपनी [illegible] अनन्त पर्यायें ज्ञात होती हैं। कहाँ आपका अन[illegible]अनन्त द्रव्य-पर्यायोंको जाननेवाला

अगाध ज्ञान और कहाँ मेरा अल्प ज्ञान! आप अनुपम आनन्दरूप भी सम्पूर्णतया परिणमित हो गये हैं। कहाँ आपका पूर्ण आनन्द और कहाँ मेरा अल्प आनन्द! इसी प्रकार अनन्त गुणोंकी पूर्ण पर्यायरूपसे आप सम्पूर्णतया परिणमित हो गये हो। आपकी क्या महिमा करें? आपको तो जैसा द्रव्य वैसी ही एक समयकी पर्याय परिणमित हो गई है; मेरी पर्याय तो अनन्तवें भाग है।'

इस प्रकार प्रत्येक साधक, द्रव्य-अपेक्षासे अपनेको भगवान मानता होने पर भी, पर्याय-अपेक्षासे—ज्ञान, आनन्द, चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व पर्यायोंकी अपेक्षासे— अपनी पामरता जानता है। ३५२.

*

तरनेका उपाय बाहरी चमत्कारोंमें नहीं रहा है। बाह्य चमत्कार साधकका लक्षण भी नहीं हैं। चैतन्य-चमत्कार-स्वरूप स्वसंवेदन ही साधकका लक्षण है। जो अन्तरकी गहराईमें रागके एक कणको भी लाभरूप मानता है, उसे आत्माके दर्शन नहीं होते। निस्पृह ऐसा हो जा कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये। एक आत्माकी ही लगन लगे और अन्तरमेंसे उत्थान हो तो परिणति पलटे बिना न रहे। ३५५.

*

मुनिराजका निवास चैतन्यदेशमें है। उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरे-गहरे चैतन्यकी गुफामें चला जाता है। बाहर आने पर मुरदे जैसी दशा होती है। शरीरके प्रति राग छूट गया है। शान्तिका सागर उमड़ा है। चैतन्यकी

पर्यायकी विविध तरंगें उछल रही हैं। ज्ञानमें कुशल हैं, दर्शनमें प्रबल हैं, समाधिके वेदक हैं। अन्तरमें तृप्त-तृप्त हैं। मुनिराज मानों वीतरागताकी मूर्ति हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं। देहमें वीतराग दशा छा गई है। जिन नहीं परन्तु जिनसरीखे हैं। ३५६.

*

सम्यग्दृष्टिको पुरुषार्थसे रहित कोई काल नहीं है। पुरुषार्थ करके भेदज्ञान प्रगट किया तबसे पुरुषार्थकी धारा चलती ही है। सम्यग्दृष्टिका यह पुरुषार्थ सहज है, हठ पूर्वक नहीं है। दृष्टि प्रगट होनेके बाद वह एक ओर पड़ी हो ऐसा नहीं है। जैसे अग्नि ढँकी पड़ी हो ऐसा नहीं है। अन्तरमें भेदज्ञानका—ज्ञातृत्वधाराका प्रगट वेदन है। सहज ज्ञातृत्वधारा चल रही है वह पुरुषार्थसे चल रही है। परम तत्त्वमें अविचलता है। प्रतिकूलताके समूह आये, सारे ब्रह्माण्डमें खलबली मच जाय, तथापि चैतन्यपरिणति न डोले—ऐसी सहज दशा है। ३६०.

*

जिस प्रकार अज्ञानीको 'शरीर ही मैं हूँ, यह शरीर मेरा है' ऐसा सहज ही रहा करता है, घोखना नहीं पड़ता, याद नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार ज्ञानीको 'ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कुछ मेरा नहीं है' ऐसी सहज परिणति वर्तती रहती है, घोखना नहीं पड़ता, याद नहीं करना पड़ता। सहज पुरुषार्थ वर्तता रहता है। ३६२.

*

मुनिराज आश्चर्यकारी निज ऋद्धिसे भरे हुए चैतन्य-

महलमें निवास करते हैं; चैतन्यलोकमें अनन्त प्रकारका दर्शनीय है उसका अवलोकन करते हैं; अतीन्द्रिय आनन्दरूप-स्वादिष्ट अमृतभोजनके थाल भरे हैं वह भोजन करते हैं। समरसमय अचिन्त्य दशा है! ३६३.

※

जिसने आत्माको पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है, प्रत्येक पर्यायमें शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है। विविध शुभ भाव आयें तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं हो जाता और वे भाव मुख्यता नहीं पाते।

मुनिराजको पंचाचार, व्रत, नियम, जिनभक्ति, इत्यादि सर्व शुभभावोंके समय भेदज्ञानकी धारा, स्वरूपकी शुद्ध चारित्रदशा निरन्तर चलती ही रहती है। शुभ भाव नीचे ही रहते हैं, आत्मा ऊँचाका ऊँचा ही—ऊर्ध्व ही—रहता है। सब कुछ पीछे रह जाता है, आगे एक शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है। ३६६.

※

जिसे आत्माका करना हो उसे आत्माका ध्येय ही सन्मुख रखने योग्य है। 'कार्यों'की गिनती करनेकी अपेक्षा एक आत्माका ध्येय ही मुख्य रखना वह उत्तम है। प्रवृत्ति-रूप 'कार्य' तो भूमिकाके योग्य होते हैं।

आत्माको मुख्य रखकर जो क्रिया हो उसे ज्ञानी देखते रहते हैं। उनके सर्व कार्योंमें 'आत्मा समीप जिसे रहे' ऐसा लगा है। ध्येयको वे भूलते नहीं हैं। ३७०.

※

पूर्ण गुणोंसे अभेद ऐसे पूर्ण आत्मद्रव्य पर दृष्टि करनेसे, उसीके आलम्बनसे, पूर्णता प्रगट होती है। इस अखण्ड द्रव्यका आलम्बन वही अखण्ड एक परमपारिणामिक-भावका आलम्बन है। ज्ञानीको उस आलम्बनसे प्रगट होनेवाली औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकभावरूप पर्यायोंका—व्यक्त होनेवाली विभूतियोंका—वेदन होता है परन्तु उनका आलम्बन नहीं होता—उन पर जोर नहीं होता। जोर तो सदा अखण्ड शुद्ध द्रव्य पर ही होता है। क्षायिकभावका भी आश्रय या आलम्बन नहीं लिया जाता क्योंकि वह तो पर्याय है, विशेष भाव है। सामान्यके आश्रयसे ही शुद्ध विशेष प्रगट होता है, ध्रुवके आलम्बनसे ही निर्मल उत्पाद होता है। इसलिये सब छोड़कर, एक शुद्धात्मद्रव्यके प्रति—अखण्ड परमपारिणामिकभावके प्रति—दृष्टि कर, उसीके ऊपर निरन्तर जोर रख, उसीकी ओर उपयोग ढले ऐसा कर। ३७६.

*

स्वभावमेंसे विशेष आनन्द प्रगट करनेके लिये मुनिराज जंगलमें बसे हैं। उस हेतु उनको निरन्तर परमपारिणामिक-भावमें लीनता वर्तती है,—दिन-रात रोमरोममें एक आत्मा ही रम रहा है। शरीर है किन्तु शरीरकी कोई चिन्ता नहीं है, देहातीत जैसी दशा है। उत्सर्ग एवं अपवादकी मैत्रीपूर्वक रहनेवाले हैं। आत्माका पोषण करके निज स्वभावभावोंको पुष्ट करते हुए विभावभावोंका शोषण करते हैं। जिस प्रकार माताका पल्ला पकड़कर चलता हुआ बालक कुछ अड़चन दिखने पर अधिक जोरसे पल्ला पकड़

लेता है, उसी प्रकार मुनि परीषह—उपसर्ग आने पर प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्यको पकड़ लेते हैं। 'ऐसी पवित्र मुनिदशा कब प्राप्त करेंगे!' ऐसा मनोरथ सम्यग्दृष्टिको वर्तता है। ३७७.

*

जिसे स्वभावकी महिमा जागी है ऐसे सच्चे आत्मार्थीको विषय—कषायोंकी महिमा टूटकर उनकी तुच्छता लगती है। उसे चैतन्यस्वभावकी समझमें निमित्तभूत देव—शास्त्र—गुरुकी महिमा आती है। कोई भी कार्य करते हुए उसे निरन्तर शुद्ध स्वभाव प्राप्त करनेका खटका लगा ही रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्थित ज्ञानीको शुभाशुभ भावसे भिन्न ज्ञायकका अवलम्बन करनेवाली ज्ञातृत्वधारा निरन्तर वर्तती रहती है। परन्तु पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अस्थिरतारूप विभावपरिणति बनी हुई है इसलिये उनको गृहस्थाश्रम सम्बन्धी शुभाशुभ परिणाम होते हैं। स्वरूपमें स्थिर नहीं रहा जाता इसलिये वे विविध शुभभावोंमें युक्त होते हैं:— 'मुझे देव—गुरुकी सदा समीपता हो, गुरुके चरणकमलकी सेवा हो' इत्यादि प्रकारसे जिनेन्द्रभक्ति—स्तवन—पूजन एवं गुरुसेवाके भाव होते हैं तथा शास्त्रस्वाध्यायके, ध्यानके, दानके, भूमिकानुसार अणुव्रत एवं तपादिके शुभभाव उनके हठ विना आते हैं। इन सब भावोंके बीच ज्ञातृत्वपरिणतिकी धारा तो सतत चलती ही रहती है।

निजस्वरूपधाममें रमनेवाले मुनिराजको भी पूर्ण वीतरागदशाका अभाव होनेसे विविध शुभभाव होते हैं:— उनके महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, पंचाचार, स्वाध्याय, ध्यान

इत्यादि सम्बन्धी शुभभाव आते हैं तथा जिनेन्द्रभक्ति–श्रुतभक्तिके उल्लासमय भाव भी आते हैं। 'हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन होनेसे, आपके चरणकमलकी प्राप्ति होनेसे, मुझे क्या नहीं प्राप्त हुआ ? अर्थात् आप मिलनेसे मुझे सब कुछ मिल गया।' ऐसे अनेक प्रकारसे श्री पद्मनन्दी आदि मुनिवरोंने जिनेन्द्रभक्तिके स्रोत बहाये हैं।—ऐसे ऐसे अनेक प्रकारके शुभभाव मुनिराजको भी हठ विना आते हैं। साथ ही साथ ज्ञायकके उग्र आलम्बनसे मुनि योग्य उग्र ज्ञातृत्वधारा भी सतत चलती ही रहती है

साधकको—मुनिको तथा सम्यग्दृष्टि श्रावकको—जो शुभभाव आते हैं वे ज्ञातृत्वपरिणतिसे विरुद्धस्वभाववाले होनेके कारण उनका आकुलतारूपसे—दुःखरूपसे वेदन होता है, हेयरूप ज्ञात होते हैं, तथापि उस भूमिकामें आये विना नहीं रहते।

साधककी दशा एकसाथ त्रिपटी (–तीन विशेषताओं-वाली) है :—एक तो, उसे ज्ञायकका आश्रय अर्थात् शुद्धात्मद्रव्यके प्रति जोर निरन्तर वर्तता है। जिसमें अशुद्ध तथा शुद्ध पर्यायांशकी भी उपेक्षा होती है; दूसरा, शुद्ध पर्यायांशका सुखरूपसे वेदन होता है; और तीसरा, अशुद्ध पर्यायांश—जिसमें व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभावोंका समावेश है उसका—दुःखरूपसे, उपाधिरूपसे वेदन होता है।

साधकको शुभभाव उपाधिरूप लगते हैं—इसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वे भाव हठपूर्वक होते हैं। यों तो साधकके वे भाव हठरहित सहजदशाके हैं, अज्ञानीकी भाँति 'ये भाव नहीं करूँगा तो परभवमें दुःख सहन करने

पड़ेंगे ' ऐसे भयसे जबरन् कष्टपूर्वक नहीं किये जाते; तथापि वे सुखरूप भी ज्ञात नहीं होते। शुभभावोंके साथ-साथ वर्तती, ज्ञायकका अवलम्बन लेनेवाली जो यथोचित निर्मल परिणति वही साधकको सुखरूप ज्ञात होती है।

जिस प्रकार हाथीके बाहरके दाँत—दिखानेके दाँत अलग होते हैं और भीतरके दाँत—चबानेके दाँत अलग होते हैं, उसी प्रकार साधकको बाह्यमें उत्साहके कार्य—शुभ परिणाम दिखायी दें वे अलग होते हैं और अन्तरमें आत्मशान्तिका—आत्मतृप्तिका स्वाभाविक परिणमन अलग होता है। बाह्य क्रियाके आधारसे साधकका अन्तर नहीं पहिचाना जाता। ३७८.

*

मुनिराजको शुद्धात्मतत्त्वके उग्र अवलम्बन द्वारा आत्मामें संयम प्रगट हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड पलट जाये तथापि मुनिराजकी यह दृढ़ संयमपरिणति नहीं पलट सकती। बाहरसे देखने पर तो मुनिराज आत्मसाधनाके हेतु वनमें अकेले बसते हैं, परन्तु अन्तरमें देखें तो अनन्त गुणसे भरपूर स्वरूपनगरमें उनका निवास है। बाहरसे देखने पर भले ही वे क्षुधावन्त हों, तृषावन्त हों, उपवासी हों, परन्तु अन्तरमें देखा जाये तो वे आत्माके मधुर रसका आस्वादन कर रहे हैं। बाहरसे देखने पर भले ही उनके चारों ओर घनघोर अन्धेरा व्याप्त हो, परन्तु अन्तरमें देखो तो मुनिराजके आत्मामें आत्मज्ञानका उजाला फैल रहा है। बाहरसे देखने पर भले ही मुनिराज सूर्यके प्रखर तापमें ध्यान करते हों, परन्तु अन्तरमें वे संयमरूपी कल्पवृक्षकी शीतल छायामें विराजमान हैं। उपसर्गका प्रसंग आये तब

मुनिराजको ऐसा लगता है कि—'अपनी स्वरूपस्थिरताके प्रयोगका मुझे अवसर मिला है इसलिये उपसर्ग मेरा मित्र है'। अन्तरंग मुनिदशा अद्भुत है; वहाँ देहमें भी उपशम-रसके ढाले ढल गये होते हैं। ३८८.

*

जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है उसे दृष्टिके जोरमें अकेला ज्ञायक ही—चैतन्य ही भासता है, शरीरादि कुछ भासित नहीं होता। भेदज्ञानकी परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी आत्मा शरीरसे भिन्न भासता है। दिनको जागृत दशामें तो ज्ञायक निराला रहता है परन्तु रातको नींदमें भी आत्मा निराला ही रहता है। निराला तो है ही परन्तु प्रगट निराला हो जाता है।

उसको भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परन्तु चाहे जिस संयोगमें उसकी ज्ञान–वैराग्य शक्ति कोई और ही रहती है। मैं तो ज्ञायक सो ज्ञायक ही हूँ, निःशंक ज्ञायक हूँ; विभाव और मैं कभी एक नहीं हुए; ज्ञायक पृथक् ही है, सारा ब्रह्माण्ड पलट जाय तथापि पृथक् ही है।—ऐसा अचल निर्णय होता है। स्वरूप-अनुभवमें अत्यन्त निःशंकता वर्तती है। ज्ञायक ऊपर चढ़कर—ऊर्ध्वरूपसे विराजता है, दूसरा सब नीचे रह जाता है। ३८९.

*

मुनिराज समाधिपरिणत हैं। वे ज्ञायकका अवलम्बन लेकर विशेष–विशेष समाधिसुख प्रगट करनेको उत्सुक हैं। मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मुनि 'सकलविमल केवलज्ञानदर्शनके लोलुप' हैं। 'स्वरूपमें कब ऐसी स्थिरता होगी जब श्रेणी लगकर वीतरागदशा प्रगट होगी? कब

ऐसा अवसर आयेगा जब स्वरूपमें उग्र रमणता होगी और आत्माका परिपूर्ण स्वभावज्ञान—केवलज्ञान प्रगट होगा ? कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वतरूपसे आत्मस्वभावमें ही रह जायगा ?' ऐसी भावना मुनिराजको वर्तती है। आत्माके आश्रयसे एकाग्रता करते-करते वे केवलज्ञानके समीप जा रहे हैं। प्रचुर शान्तिका वेदन होता है। कषाय बहुत मन्द हो गये हैं। कदाचित् कुछ ऋद्धियाँ—चमत्कार भी प्रगट होते जाते हैं; परन्तु उनका उनके प्रति दुर्लक्ष है। 'हमें ये चमत्कार नहीं चाहिये। हमें तो पूर्ण चैतन्यचमत्कार चाहिये। उसके साधनरूप, ऐसा ध्यान—ऐसी निर्विकल्पता—ऐसी समाधि चाहिये कि जिसके परिणामसे असंख्य प्रदेशोंमें प्रत्येक गुण उसकी परिपूर्ण पर्यायसे प्रगट हो, चैतन्यका पूर्ण विलास प्रगट हो।' इस भावनाको मुनिराज आत्मामें अत्यन्त लीनता द्वारा सफल करते हैं। ३९०.

*

अज्ञानीने अनादि कालसे अनन्त ज्ञान-आनन्दादि समृद्धिसे भरे हुए निज चैतन्यमहलको ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहरसे ढूँढ़ता है, आनन्द बाहरसे ढूँढ़ता है, सब कुछ बाहरसे ढूँढ़ता है। स्वयं भगवान होने पर भी भीख माँगता रहता है।

ज्ञानीने चैतन्यमहलके ताले खोल दिये हैं। अन्तरमें ज्ञान-आनन्दादिकी अखूट समृद्धि देखकर, और थोड़ी भोगकर, पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है। ३९१.

*

जिसे भवभ्रमणसे सचमुच छूटना हो उसे अपनेको परद्रव्यसे भिन्न पदार्थ निश्चित करके, अपने ध्रुव ज्ञायक-स्वभावकी महिमा लाकर, सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका प्रयास करना चाहिये। यदि ध्रुव ज्ञायकभूमिका आश्रय न हो तो जीव साधनाका बल किसके आश्रयसे प्रगट करेगा? ज्ञायककी ध्रुव भूमिमें दृष्टि जमने पर, उसमें एकाग्रतारूप प्रयत्न करते-करते, निर्मलता प्रगट होती जाती है।

साधक जीवकी दृष्टि निरन्तर शुद्धात्मद्रव्य पर होती है, तथापि साधक जानता है सबको;—वह शुद्ध-अशुद्ध पर्यायोंको जानता है और उन्हें जानते हुए उनके स्वभाव-विभावपनेका, उनके सुख-दुःखरूप वेदनका, उनके साधक-बाधकपनेका इत्यादिका विवेक वर्तता है। साधकदशामें साधकके योग्य अनेक परिणाम वर्तते रहते हैं परन्तु 'मैं परिपूर्ण हूँ' ऐसा बल सतत साथ ही साथ रहता है। पुरुषार्थरूप क्रिया अपनी पर्यायमें होती है और साधक उसे जानता है, तथापि दृष्टिके विषयभूत ऐसा जो निष्क्रिय द्रव्य वह अधिक का अधिक रहता है।—ऐसी साधकपरिणतिकी अटपटी रीतिको ज्ञानी बराबर समझते हैं, दूसरोंको समझना कठिन होता है। ३९३.

*

मुनिराजके हृदयमें एक आत्मा ही विराजता है। उनका सर्व प्रवर्तन आत्मामय ही है। आत्माके आश्रयसे बड़ी निर्भयता प्रगट हुई है। घोर जंगल हो, घनी झाड़ी हो, सिंह-व्याघ्र दहाड़ते हों, मेघाच्छन्न डरावनी रात हो, चारों ओर अन्धकार व्याप्त हो, वहाँ गिरिगुफामें मुनिराज बस अकेले चैतन्यमें ही मस्त होकर निवास करते हैं।

आत्मामेंसे बाहर आयें तो श्रुतादिके चिन्तवनमें चित्त लगता है और फिर अन्तरमें चले जाते हैं। स्वरूपके झूलेमें झूलते हैं। मुनिराजको एक आत्मलीनताका ही काम है। अद्भुत दशा है! ३९४.

*

सम्यग्दृष्टिको भले स्वानुभूति स्वयं पूर्ण नहीं है परन्तु दृष्टिमें परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। ज्ञानपरिणति द्रव्य तथा पर्यायको जानती है परन्तु पर्याय पर जोर नहीं है। दृष्टिमें अकेला स्वकी ओरका—द्रव्यकी ओरका बल रहता है। ३९९.

*

ज्ञानीका परिणमन विभावसे विमुख होकर स्वरूपकी ओर ढ़ल रहा है। ज्ञानी निज स्वरूपमें परिपूर्णरूपसे स्थिर हो जानेको तरसता है। 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है। इस परदेशमें हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। यहाँ हमारा कोई नहीं है। जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्यादि अनन्तगुणरूप हमारा परिवार बसता है वह हमारा स्वदेश है। अब हम उस स्वरूप-स्वदेशकी ओर जा रहे हैं। हमें त्वरासे अपने मूल वतनमें जाकर आरामसे बसना है जहाँ सब हमारे हैं।' ४०१.

*

जो केवलज्ञान प्राप्त कराये ऐसा अन्तिम पराकाष्ठाका ध्यान वह उत्तम प्रतिक्रमण है। इन महा मुनिराजने ऐसा प्रतिक्रमण किया कि दोष पुनः कभी उत्पन्न ही नहीं हुए; ठेठ श्रेणी लगा दी कि जिसके परिणामसे वीतरागता होकर केवलज्ञानका सारा समुद्र उछल पड़ा! अन्तर्मुखता तो अनेक

बार हुई थी, परन्तु यह अन्तर्मुखता तो अन्तिमसे अन्तिम कोटि की! आत्माके साथ पर्याय ऐसी जुड़ गई कि उपयोग अन्दर गया सो गया, फिर कभी बाहर आया ही नहीं। चैतन्यपदार्थको जैसा ज्ञानमें जाना था, वैसा ही उसको पर्यायमें प्रसिद्ध कर लिया। ४०२.

※

जैसे पूर्णमासीके पूर्ण चन्द्रके योगसे समुद्रमें ज्वार आता है, उसी प्रकार मुनिराजको पूर्ण चैतन्यचन्द्रके एकाग्र अवलोकनसे आत्मसमुद्रमें ज्वार आता है;—वैराग्यका ज्वार आता है, आनन्दका ज्वार आता है, सर्व गुण–पर्यायका यथासम्भव ज्वार आता है। यह ज्वार बाहरसे नहीं, भीतरसे आता है। पूर्ण चैतन्यचन्द्रको स्थिरतापूर्वक निहारने पर अन्दरसे चेतना उछलती है, चारित्र उछलता है, सुख उछलता है, वीर्य उछलता है—सब कुछ उछलता है। धन्य मुनिदशा! ४०३.

※

अज्ञानी जीव ऐसे भावसे वैराग्य करता है कि— 'यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःखरूप है', परन्तु उसे 'मेरा आत्मा ही आनन्दस्वरूप है' ऐसे अनुभवपूर्वक सहज वैराग्य नहीं होनेके कारण सहज शान्ति परिणमित नहीं होती। वह घोर तप करता है, परन्तु कषायके साथ एकत्वबुद्धि नहीं टूटी होनेसे आत्मप्रतपन प्रगट नहीं होता। ४०५.

※

यहाँ (श्री प्रवचनसार प्रारम्भ करते हुए) कुन्दकुन्दा-

चार्यभगवानको पंच परमेष्ठीके प्रति कैसी भक्ति उल्लसित हुई है! पाँचों परमेष्ठीभगवन्तोंका स्मरण करके भक्तिभाव-पूर्वक कैसा नमस्कार किया है! तीन कालके तीर्थंकर-भगवन्तोंको—साथ ही साथ मनुष्यक्षेत्रमें वर्तते विद्यमान तीर्थंकरभगवन्तोंको अलग स्मरण करके—'सबको एकसाथ तथा प्रत्येक-प्रत्येकको मैं वन्दन करता हूँ' ऐसा कहकर अति भक्तिभीने चित्तसे आचार्यभगवान नम गये हैं। ऐसे भक्तिके भाव मुनिको—साधकको—आये बिना नहीं रहते। चित्तमें भगवानके प्रति भक्तिभाव उछले तब, मुनि आदि साधकको भगवानका नाम आने पर भी रोम-रोम उल्लसित हो जाता है। ऐसे भक्ति आदिके शुभ भाव आयें तब भी मुनिराजको ध्रुव ज्ञायकतत्त्व ही मुख्य रहता है इसलिये शुद्धात्माश्रित उग्र समाधिरूप परिणमन वर्तता ही रहता है और शुभ भाव तो ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं तथा स्वभावसे विपरीतरूप वेदनमें आते हैं। ४०७.

❊

जिस प्रकार वटवृक्षकी जटा पकड़कर लटकता हुआ मनुष्य मधुबिन्दुकी तीव्र लालसामें पड़कर, विद्याधरकी सहायताकी उपेक्षा करके विमानमें नहीं बैठा, उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषयोंके कल्पित सुखकी तीव्र लालसामें पड़कर गुरुके उपदेशकी उपेक्षा करके शुद्धात्मरुचि नहीं करता, अथवा 'इतना काम कर लूँ, इतना काम कर लूँ' इस प्रकार प्रवृत्तिके रसमें लीन रहकर शुद्धात्मप्रतीतिके उद्यमका समय नहीं पाता, इतनेमें तो मृत्युका समय आ पहुँचता है। फिर 'मैंने कुछ किया नहीं, अरेरे! मनुष्यभव व्यर्थ गया' इस प्रकार वह पछताये तथापि किस कामका?

मृत्युके समय उसे किसकी शरण है? वह रोगकी, वेदनाकी, मृत्युकी, एकत्वबुद्धिकी और आर्तध्यानकी चपेटमें आकर देह छोड़ता है। मनुष्यभव हारकर चला जाता है।

धर्मी जीव रोगकी, वेदनाकी या मृत्युकी चपेटमें नहीं आता, क्योंकि उसने शुद्धात्माकी शरण प्राप्त की है। विपत्तिके समय वह आत्मामेंसे शान्ति प्राप्त कर लेता है। विकट प्रसंगमें वह निज शुद्धात्माकी शरण विशेष लेता है। मरणादिके समय धर्मी जीव शाश्वत ऐसे निजसुखसरोवरमें विशेष-विशेष डुबकी लगा जाता है—जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है, शान्तिकी अखूट निधि है। वह शान्तिपूर्वक देह छोड़ता है, उसका जीवन सफल है।

तू मरणका समय आनेसे पहले चेत जा, सावधान हो, सदा शरणभूत—विपत्तिके समय विशेष शरणभूत होनेवाले—ऐसे शुद्धात्मद्रव्यको अनुभवनेका उद्यम कर। ४०२.

*

जिसने आत्माके मूल अस्तित्वको नहीं पकड़ा, 'स्वयं शाश्वत तत्त्व है, अनन्त सुखसे भरपूर है' ऐसा अनुभव करके शुद्ध परिणतिकी धारा प्रगट नहीं की, उसने भले सांसारिक इन्द्रिय सुखोंको नाशवन्त और भविष्यमें दुःखदाता जानकर छोड़ दिया हो और बाह्य मुनिपना ग्रहण किया हो, भले ही वह दुर्धर तप करता हो और उपसर्ग-परीषहमें अडिग रहता हो, तथापि उसे वह सब निर्वाणका कारण नहीं होता, स्वर्गका कारण होता है; क्योंकि उसे शुद्ध परिणमन बिलकुल नहीं वर्तता, मात्र शुभ परिणाम ही—और वह भी उपादेयबुद्धिसे—वर्तता है। वह भले नौ पूर्व पढ़ गया हो तथापि उसने आत्माका मूल द्रव्यसामान्य-

स्वरूप अनुभवपूर्वक नहीं जाना होनेसे वह सब अज्ञान है।

सच्चे भावमुनिको तो शुद्धात्मद्रव्याश्रित मुनियोग्य उग्र शुद्धपरिणति चलती रहती है, कर्तापना तो सम्यग्दर्शन होने पर ही छूट गया होता है, उग्र ज्ञातृत्वधारा अटूट वर्तती रहती है, परम समाधि परिणमित होती है। वे शीघ्र-शीघ्र निजात्मामें लीन होकर आनन्दका वेदन करते रहते हैं; उनके प्रचुर स्वसंवेदन होता है। वह दशा अद्भुत है, जगतसे न्यारी है। पूर्ण वीतरागता न होनेसे उनके व्रत-तप-शास्त्ररचना आदिके शुभ भाव आते हैं अवश्य, परन्तु वे हेयबुद्धिसे आते हैं। ऐसी पवित्र मुनिदशा मुक्तिका कारण है। ४१०.

*

मुनिराज कहते हैं:—हमारा आत्मा तो अनन्त गुणोंसे भरपूर, अनन्त अमृतरससे भरपूर, अक्षय घट है। उस घटमेंसे पतली धारसे अल्प अमृत पिया जाय ऐसे स्वसंवेदनसे हमें संतोष नहीं होता। हमें तो प्रति समय पूर्ण अमृतका पान हो ऐसी पूर्ण दशा चाहिये। उस पूर्ण दशामें सादि-अनन्त काल पर्यन्त प्रति समय पूरा अमृत पिया जाता है और घट भी सदा परिपूर्ण भरा रहता है। चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान शाश्वत द्रव्य और प्रति समय ऐसी ही पूर्ण व्यक्तिवाला परिणमन! ऐसी उत्कृष्ट-निर्मल दशाकी हम भावना भाते हैं। (ऐसी भावनाके समय भी मुनिराजकी दृष्टि तो सदा शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही है।) ४१५.

*

सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् आत्मस्थिरता बढ़ते-बढ़ते, बारम्बार स्वरूप लीनता होती रहे ऐसी दशा हो तब

मुनिपना आता है। मुनिको स्वरूपकी ओर ढलती हुई शुद्धि इतनी बढ़ गई होती है कि वे बड़ी-बड़ी आत्मामें प्रविष्ट हो जाते हैं। पूर्ण वीतरागताके अभावके कारण जब बाहर आते हैं तब विकल्प तो उठते हैं परन्तु वे गृहस्थदशाके योग्य नहीं होते, मात्र स्वाध्याय-ध्यान-व्रत-संयम-तप-भक्ति इत्यादिसम्बन्धी मुनियोग्य शुभ विकल्प ही होते हैं और वे भी हठ रहित होते हैं। मुनिराजको बाहरका कुछ नहीं चाहिये। बाह्यमें एक शरीरमात्रका सम्बन्ध है, उसके प्रति भी परम उपेक्षा है। बड़ी निःस्पृह दशा है। आत्माकी ही लगन लगी है। चैतन्यनगरमें ही निवास है। 'मैं और मेरे आत्माके अनन्त गुण ही मेरे चैतन्यनगरकी बस्ती है। उसीका मुझे काम है। दूसरोंका मुझे क्या काम?' इस प्रकार एक आत्माकी ही धुन है। विश्वकी कथासे उदास हैं। बस, एक आत्मामय ही जीवन हो गया है; — मानों चलते-फिरते सिद्ध! जैसे पिताकी झलक पुत्रमें दिखायी देती है उसी प्रकार जिनभगवानकी झलक मुनिराजमें दिखती है। मुनि छठवें-सातवें गुणस्थानमें रहें उतने काल कहीं (आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढ़े बिना) वहीं के वहीं खड़े नहीं रहते, आगे बढ़ते जाते हैं; केवलज्ञान न हो तब तक शुद्धि बढ़ाते ही जाते हैं। — यह, मुनिकी अंतःसाधना है। जगतके जीव मुनिकी अंतरंग साधना नहीं देखते। साधना कहीं बाहरसे देखनेकी वस्तु नहीं है, अन्तरकी दशा है। मुनिदशा आश्चर्यकारी है, वंद्य है। ४१७.

*

प्रश्न :— सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व कहा है, तो क्या निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होने पर आत्माके सर्व गुणोंका आंशिक

शुद्ध परिणमन वेदनमें आता है?

उत्तर :— निर्विकल्प स्वानुभूतिकी दशामें आनन्द-गुणकी आश्चर्यकारी पर्याय प्रगट होने पर आत्माके सर्व गुणोंका (यथासम्भव) आंशिक शुद्ध परिणमन प्रगट होता है और सर्व गुणोंकी पर्यायोंका वेदन होता है।

आत्मा अखण्ड है, सर्व गुण आत्माके ही हैं, इसलिये एक गुणकी पर्यायका वेदन हो उसके साथ-साथ सर्व गुणोंकी पर्यायें अवश्य वेदनमें आती हैं। भले ही सर्व गुणोंके नाम न आते हों, और सर्व गुणोंकी संज्ञा भाषामें होती भी नहीं, तथापि उनका संवेदन तो होता ही है।

स्वानुभूतिके कालमें अनन्तगुणसागर आत्मा अपने आनन्दादि गुणोंकी चमत्कारिक स्वाभाविक पर्यायोंमें रमण करता हुआ प्रगट होता है। वह निर्विकल्प दशा अद्भुत है, वचनातीत है। वह दशा प्रगट होने पर सारा जीवन पलट जाता है। ४२३.

*

प्रश्न :— निर्विकल्प दशा होने पर वेदन किसका होता है? द्रव्यका या पर्यायका?

उत्तर :— दृष्टि तो ध्रुवस्वभावकी ही होती है; वेदन होता है आनन्दादि पर्यायोंका।

द्रव्य तो स्वभावसे अनादि-अनन्त है जो पलटता नहीं है, बदलता नहीं है। उस पर दृष्टि करनेसे, उसका ध्यान करनेसे, अपनी विभूतिका प्रगट अनुभव होता है। ४३०.

'श्रीमद् राजचंद्र' मेंसे उद्धृत रत्न

एक समयमें असंख्यात योजन चलनेवाला अश्व यह मन है। इसे थकाना बहुत दुष्कर है। इसकी गति चपल और पकड़में न आ सकनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसे स्तंभित करके सब पर विजय प्राप्त की है।

—(शिक्षापाठ : ६८; १७वाँ वर्ष)

※

ज्ञानी अंतरंग खेद और हर्षसे रहित होते हैं।

—(वचनामृत : ५८; २० वाँ वर्ष)

※

सत्पुरुष कहते नहीं, करते नहीं, फिर भी उनकी सत्पुरुषता निर्विकार मुखमुद्रामें निहित है।

—(वचनामृत : १२२; २०वाँ वर्ष)

※

मेरे प्रति मोहदशा न रखे, मैं तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टिमें अनेक सत्पुरुष गुप्तरूपमें मौजूद हैं। प्रगटरूप में भी मौजूद हैं। उनके गुणोंका स्मरण करे। उनका पवित्र समागम करे और आत्मिक लाभसे मनुष्यभवको सार्थक करे यह मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

—(पत्रांक : ४३; २२ वाँ वर्ष)

※

समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ़ होते हुए भी उसका त्याग करके, करपात्रमें भिक्षा माँगकर (—निर्दोष

आहार ग्रहण कर) जीनेवाले संतके चरणोंको अनन्तानन्त प्रेमसे पूजते हैं, और वे अवश्यमेव छूटते हैं।

—(पत्रांक : १७६; २४ वाँ वर्ष)

※

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, इसका जिन्होंने हृदयमें अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी गुप्त शिक्षा है। —(पत्रांक : २०१; २४ वाँ वर्ष)

※

ज्ञानीको सर्वत्र मोक्ष है, यह बात यद्यपि यथार्थ है, तो भी जहाँ मायापूर्वक परमात्माका दर्शन है ऐसे जगतमें विचारकर पैर रखने जैसा उन्हें भी कुछ लगता है।

—(पत्रांक : २०५; २४ वाँ वर्ष)

※

'लाचार होकर' करना चाहिए, और वह भी प्रारब्धवशात् निःस्पृह बुद्धिसे, ऐसे व्यवहारको योग्य व्यवहार मानिये। —(पत्रांक : २३२; २४ वाँ वर्ष)

※

वह सत्य सुधा दरशावहिंगे, चतुरांगुल हे दगसे मिलहे।
रस देव निरंजन को पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जीवही। ॥ ७ ॥
पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसें, सब आगमभेद सुउर बसें।
वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाई दिये ॥ ८ ॥

—(पत्रांक : २६५; २४ वाँ वर्ष)

※

उसमें (—उपाधिप्रसंगमें) तो अत्यन्त उदास परिणाम

हो जानेसे क्षणभरके लिये भी चित्त स्थिर नहीं रह सकता; जिससे ज्ञानी सर्वसंगपरित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरण करते हैं। —(पत्रांक : ३३४; २५ वाँ वर्ष)

※

जिसे बोधबीजकी उत्पत्ति होती है उसे स्वरूपसुखसे परितृप्तता रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उस जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखण्ड आत्मबोध नहीं है ऐसा समझें।

—(पत्रांक : ३६०; २५ वाँ वर्ष)

※

जिसे सच्चा आत्मभान होता है उसे, मैं अन्य भावका अकर्त्ता हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहंप्रत्ययीबुद्धि विलीन हो जाती है। —(पत्रांक : ३६२; २५ वाँ वर्ष)

※

ज्ञानी अपना उपजीवन — आजीविका भी पूर्वकर्मानुसार करते हैं; ज्ञानमें प्रतिबद्धता हो, इस तरह आजीविका नहीं करते, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगको नहीं चाहते। —(पत्रांक : ३६८; २५ वाँ वर्ष)

※

पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी मुमुक्षुको सांसारिक फल देना नहीं चाहते; क्योंकि यह अकर्तव्य है — ऐसा ज्ञानी नहीं करते। (पत्रांक : ३७४; २५ वाँ वर्ष)

※

वास्तविकता तो यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ उसी कालमें ज्ञानी मुक्त है। देहादिमें अप्रतिबद्ध है। सुख दुःख हर्ष शोकादिमें अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानीको कोई आश्रय या आलम्बन नहीं है।

—(पत्रांक : ३७७; २५ वाँ वर्ष)

*

निराश्रय ज्ञानीको तो सभी समान है अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहजस्वरूपी है, सहजरूपसे स्थित है, सहजरूपसे प्राप्त उदयको भोगते हैं। सहजरूपसे जो कुछ होता है, वह होता है; जो नहीं होता वह नहीं होता है। वे कर्तव्यरहित हैं, उनका कर्तव्यभाव विलीन हो चुका है।

—(पत्रांक : ३७७; २५ वाँ वर्ष)

*

'जगत जिसमें सोता है, उसमें ज्ञानी जागते हैं, जिसमें ज्ञानी जागते हैं उसमें जगत सोता है। जिसमें जगत जागता है, उसमें ज्ञानी सोते हैं।'

—(पत्रांक : ३८८; २५ वाँ वर्ष)

*

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदयमें आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण है।

—(पत्रांक : ४०८; २५ वाँ वर्ष)

*

मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं है, तथापि अशरीरीभावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है; और यह अशरीरीभाव इस कालमें

नहीं है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है। —(पत्रांक : ४११; २५ वाँ वर्ष)

*

लोकव्यापक अन्धकारमें स्वयंप्रकाशित ज्ञानीपुरुष ही यथातथ्य देखते हैं। —(पत्रांक : ४१३; २५ वाँ वर्ष)

*

इस जगतके लोग सर्पकी पूजा करते हैं, वे वस्तुतः पूज्यबुद्धिसे पूजा नहीं करते, परन्तु भयसे पूजा करते हैं, भावसे पूजा नहीं करते; और इष्टदेवकी पूजा लोग अत्यन्त भावसे करते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इस संसारका सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वकालमें निबन्धन किये हुए प्रारब्ध कर्मसे दिखाई देता है। वस्तुतः भावसे इस संसारमें उसका प्रतिबन्ध संगत नहीं है, पूर्वकर्मके उदयरूप भयसे संगत होता है। जितने अंशमें भावप्रतिबन्ध न हो उतने अंशमें ही सम्यग्दृष्टिपन (—साधकपना) उस जीवको होता है। —(पत्रांक : ४५९; २६ वाँ वर्ष)

*

जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे चला गया उस वस्तु के लिए अत्यन्त क्लेश नहीं होता। संसारमें भ्रान्तिसे जाना हुआ सुख परमार्थज्ञानसे भ्रान्ति ही भासित होता है, और जिसे भ्रान्ति भासित हुई है उसे फिर उसका माहात्म्य क्या लगेगा ? ऐसी माहात्म्यदृष्टि परमार्थज्ञानीपुरुषके निश्चयवाले-जीवको होती है। —(पत्रांक : ४५९; २६ वाँ वर्ष)

*

इतनी बातका निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानी-

पुरुषको भी प्रारब्धकर्म भोगे विना निवृत्त नहीं होते, और विना भोगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कोई इच्छा नहीं होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे जीवोंको भी कितने ही कर्म हैं कि जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं, अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। तथापि भेद इतना है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति मात्र पूर्वोपार्जित कारणसे होती है, और दूसरोंकी प्रवृत्तिमें भावी संसारका हेतु है; इसलिए ज्ञानीका प्रारब्ध भिन्न होता है। इस प्रारब्धका ऐसा निर्धार नहीं है कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदयमें आये। —(पत्रांक : ४८७; २७ वाँ वर्ष)

*

कितनी ही प्रारब्धस्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुषके विषयमें उसके स्वरूपके लिए जीवोंको संदेहका हेतु हो; और इसीलिए ज्ञानीपुरुष प्रायः जड़मौनदशा रखकर अपने ज्ञानित्वको अस्पष्ट रखते हैं। तथापि प्रारब्धवशात् वह दशा किसीके स्पष्ट जाननेमें आये, तो फिर उसे उस ज्ञानीपुरुषका विचित्र प्रारब्ध संदेहका कारण नहीं होता।

—(पत्रांक : ४८७; २७ वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषको कायामें आत्मबुद्धि नहीं होती, और आत्मामें कायाबुद्धि नहीं होती, उनके ज्ञानमें दोनों ही स्पष्ट भिन्न प्रतीत होते हैं। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका सम्बन्ध रहता है, वैसे पूर्व सम्बन्ध होनेसे वेदनीय कर्मका, आयु-पूर्णता तक अविषमभावसे वेदन होता है; परन्तु वह वेदन करते हुए जीवके स्वरूपज्ञानका भंग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवको वैसा स्वरूपज्ञान होना सम्भव नहीं है। आत्मज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश

ही हो जाये, ऐसा नियम नहीं है; वह अपनी स्थितिसे नष्ट होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आवरण करनेवाला नहीं है, अव्याबाधत्वको आवरणरूप है, अथवा तब तक सम्पूर्ण अव्याबाधत्व प्रगट नहीं होता; परन्तु सम्पूर्ण ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञानीको आत्मा अव्याबाध है, ऐसा निजरूपका अनुभव रहता है। तथापि सम्बन्धरूपसे देखते हुए उसका अव्याबाधत्व वेदनीय कर्मसे अमुकभावसे रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्ममें ज्ञानीको आत्मबुद्धि नहीं होनेसे अव्याबाध गुणको भी मात्र सम्बन्धका आवरण है, साक्षात् आवरण नहीं है।

वेदनाका वेदन करते हुए जीवको कुछ भी विषमभाव होना, यह अज्ञानका लक्षण है; परन्तु वेदना है, यह अज्ञानका लक्षण नहीं है, पूर्वोपार्जित अज्ञानका फल है। वर्तमानमें वह मात्र प्रारब्धरूप है, उसका वेदन करते हुए ज्ञानीको अविषमता रहती है, अर्थात् जीव और काया अलग हैं, ऐसा जो ज्ञानीपुरुषका ज्ञानयोग वह अबाध ही रहता है। मात्र विषमभावरहितपन है, यह प्रकार ज्ञानको अव्याबाध है। जो विषमभाव है वह ज्ञानको बाधाकारक है। देहमें देहबुद्धि और आत्मामें आत्मबुद्धि, देहसे उदासीनता और आत्मामें स्थिति है, ऐसे ज्ञानीपुरुषको वेदनाका उदय प्रारब्धके वेदनरूप है, नये कर्मका हेतु नहीं है।

—(पत्रांक : ५०९; २७ वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषोंको समय-समयमें अनन्त संयमपरिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है। वह

संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता होनेसे उत्पन्न होता है। —(पत्रांक : ५४१; २८वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषको आत्मप्रतिबन्धरूपसे संसार सेवा नहीं होती परन्तु प्रारब्धप्रतिबंन्धरूपसे होती है। ऐसा होनेपर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामको प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानीकी रीति होती है। —(पत्रांक : ५६०; २८वाँ वर्ष)

*

जिस प्रारब्धको भोगे विना दूसरा कोई उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंत तक आत्मार्थका त्याग करना नहीं चाहते, इतनी भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है वह सत्य है।

—(पत्रांक : ५६२; २८वाँ वर्ष)

*

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यन्त शुद्ध निज पर्यायका सहजरूपसे आत्मा सेवन करे, उसे श्री जिनेन्द्रने तीव्र ज्ञानदशा कही है। जिस दशाके आये विना कोई भी जीव बन्धनमुक्त नहीं होता, ऐसा सिद्धान्त श्री जिनेन्द्रने प्रतिपादित किया है, जो अखण्ड सत्य है।

—(पत्रांक : ५७२; २८वाँ वर्ष)

*

जिन पुरुषोंने वस्त्र जैसे शरीरसे भिन्न है, वैसे आत्मासे शरीर भिन्न है, ऐसा देखा है, वे पुरुष धन्य हैं।

दूसरेकी वस्तुका अपनेसे ग्रहण हुआ हो, जब यह

मालूम हो कि वह दूसरेकी है, तब उसे दे देनेका ही कार्य महात्मा पुरुष करते हैं।

—(पत्रांक : ५९२; २८वाँ वर्ष)

*

ज्ञानीपुरुषको जो सुख रहता है, वह निजस्वभावमें स्थितिका रहता है। बाह्य पदार्थमें उन्हें सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिये उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुखदुःखादिकी विशेषता या न्यूनता नहीं कही जा सकती। यद्यपि सामान्य-रूपसे शरीरके स्वास्थ्यादिसे साता और ज्वरादिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको होती है, तथापि ज्ञानीके लिये वह-वह प्रसंग हर्षविषादका हेतु नहीं होता, अथवा ज्ञानके तारतम्यमें यदि न्यूनता हो तो उससे कुछ हर्षविषाद होता है, तथापि सर्वथा अजागृतताको पाने योग्य ऐसा हर्षविषाद नहीं होता। उदयबलसे कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचारजागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके प्रति ज्ञानीपुरुषका परिणाम रहता है।

*

ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, ऐसा कुछ नियम नहीं है। पूर्व-निष्पन्न शुभाशुभ कर्मके अनुसार दोनोंको उदय रहता है। ज्ञानी उदयमें सम रहते हैं; अज्ञानी हर्षविषादको प्राप्त होता है।

—(पत्रांक : ६०३; २८वाँ वर्ष)

*

सहजस्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्री वीतराग 'मोक्ष' कहते हैं।

जीव सहजस्वरूपसे रहित नहीं है, परन्तु उस सहज-स्वरूपका जीवको मात्र भान नहीं है, जो भान होना, वही सहजस्वरूपसे स्थिति है। —(पत्रांक: ६०९; २८वाँ वर्ष)

*

सत्यका ज्ञान होनेके बाद मिथ्याप्रवृत्ति दूर न हो ऐसा नहीं होता। क्योंकि जितने अंशमें सत्यका ज्ञान हो उतने अंशमें मिथ्याभावप्रवृत्ति दूर हो, ऐसा जिनेन्द्रका निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्धसे बाह्य प्रवृत्तिका उदय रहता हो तो भी मिथ्या प्रवृत्तिमें तादात्म्य न हो, यह ज्ञानका लक्षण है और नित्यप्रति मिथ्या प्रवृत्ति परिक्षीण हो, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो, तो सत्यका ज्ञान भी सम्भव नहीं है।

—(पत्रांक : ६१०; २८वाँ वर्ष)

*

दृश्यको अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया ऐसा ज्ञानीपुरुषोंका आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्यवीर्य वाणीसे कहा जा सकने योग्य नहीं है।

—(पत्रांक : ६४८; २८वाँ वर्ष)

*

जिस जिसने समझा उस उसने मेरा तेरा इत्यादि अहंत्व, ममत्व शान्त कर दिया; क्योंकि कोई भी निज स्वभाव वैसा देखा नहीं; और निज स्वभाव तो अचिन्त्य, अव्याबाधस्वरूप सर्वथा भिन्न देखा, इसलिये उसीमें समाविष्ट हो गया। —(पत्रांक : ६५१; २९ वाँ वर्ष)

*

प्रारब्ध है, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करते हैं, ऐसा मालूम नहीं होता; परन्तु परिणतिसे छूट जाने पर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं. इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखायी देते हैं, तथापि वे उसकी निवृत्तिके लक्ष्यका नित्य सेवन करते हैं। —(पत्रांक ६६४; २९वाँ वर्ष)

*

उत्कृष्ट सम्पत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे वास हुआ तो भी अमूर्च्छितरूपसे और उदासीनतासे उसे प्रारब्धोदय समझकर आचरण किया है, और त्यागका लक्ष्य रखा है।

—(पत्रांक : ६६६; २९वाँ वर्ष)

*

वह (आत्माके लिये वस्तुतः उपकारभूत ऐसा) उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित हो ऐसे संयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा उस उपदेशके विस्तारसे करनेपर भी उसमें उसे ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानीपुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें संक्षेपसे भी प्रवृत्ति करते हैं। अथवा अपनेको बाह्य व्यवहारका ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवमें परिणमित होनेमें प्रतिबन्धरूप हो, अथवा तथारूप कारणके बिना वैसा वर्तन कर मुख्यमार्गके विरोधरूप या संशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो तो भी ज्ञानी पुरुष उपदेशमें संक्षेपसे प्रवृत्ति करते हैं अथवा मौन रहते हैं। —(पत्रांक : ६७७; २९वाँ वर्ष)

*

क्षणमें हर्ष और क्षणमें शोक हो आये ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानीपुरुष समदशासे रहते हैं, उन्हें अत्यन्त भक्तिसे धन्य कहते हैं; और सर्व मुमुक्षुजीवोंको इसी दशाकी उपासना करना योग्य है, ऐसा निश्चय देखकर परिणति करना योग्य है। —(पत्रांक : ६७८; २९वाँ वर्ष)

※

ज्ञानीकी वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है, और अनुभव सहित होनेसे आत्माको सतत जाग्रत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानीकी वाणीमें तथारूप गुण नहीं होते। सर्वसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधता है, वह शुष्कज्ञानीकी वाणीमें नहीं हो सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नहीं होता; और इस कारणसे जगह जगह उसकी वाणी कल्पनासे युक्त होती है। —(पत्रांक : ६७९; २९वाँ वर्ष)

※

अहो! ज्ञानीपुरुषकी आशय-गंभीरता, धीरज और उपशम! अहो! अहो! वारंवार अहो!

—(पत्रांक : ६९७; २९वाँ वर्ष)

※

जेम आवी प्रतीति जीवनी रे,
जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग, मूल०
तेवो स्थिर स्वभाव ते ऊपजे रे,
नाम चारित्र ते अणलिंग, मूल० ॥ ८ ॥

—(मूल मारग सांभलो जिननो रे, करी वृत्ति अखण्ड सन्मुख)
—(पत्रांक : ७१५; २९ वाँ वर्ष)

※

वर्ते निज स्वभावनो अनुभव लक्ष प्रतीत ।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥ १११ ॥
छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म ।
नहि भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥
मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत ।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी कहीए भ्रांत ॥ १३९ ॥
सकल जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान ।
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥१४०॥ —(आत्म-सिद्धि)

*

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥ अपूर्व०/८ ॥
नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नखके अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय, निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ॥ अपूर्व०/९ ॥
शत्रु मित्र प्रत्ये वत समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वत समभाव जो ॥ अपूर्व०/१० ॥
घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो ॥ अपूर्व०/१२ ॥

*

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं है और परमद्वेषसे उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी जिसे द्वेष नहीं है, उस पुरुषरूप भगवानको वारम्वार नमस्कार।

—(पत्रांक : ७६७; ३० वाँ वर्ष)

*

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहने पर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममें निश्चलतासे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्मव्रतका वारम्वार स्मरण करते हैं।

—(पत्रांक : ७८८; ३०वाँ वर्ष)

*

सत्पुरुषकी वाणी विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा रागद्वेषके पोषणसेरहित होती है।

—(पत्रांक : ७९३; ३०वाँ वर्ष)

*

(ज्ञानी धर्मात्मा) आत्मदशाको पाकर निर्द्वन्द्वतासे यथाप्रारब्ध विचरते हैं। —(पत्रांक : ८१७; ३१वाँ वर्ष)

*

अज्ञानसे और स्वस्वरूपके प्रमादसे आत्माको मात्र मृत्युकी भ्रान्ति है। उसी भ्रान्तिको निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूपके लक्ष्यसे सर्व जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्यसे वृत्तिको व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधिको पाता है।

—(पत्रांक : ८३३; ३१वाँ वर्ष)

*

[सम्यग्दृष्टिकी भावना :] मेरा चित्त—मेरी चित्त-वृत्तियाँ इतनी शान्त हो जायें कि कोई मृग भी इस शरीरको देखता ही रहे, भय पाकर भाग न जाये!

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शान्त हो जाये कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो वह इस शरीरको जडपदार्थ समझकर खुजली मिटानेके लिये अपना सिर इस शरीरसे घिसे! —(पत्रांक : ८५०; ३१वाँ वर्ष)

*

जिन्होंने बाह्याभ्यन्तर असंगता प्राप्त की है ऐसे महात्माओंके संसारका अन्त समीप है, ऐसा निःसंदेह ज्ञानीका निश्चय है। —(पत्रांक : ८७३; ३२वाँ वर्ष)

*

जिन ज्ञानीपुरुषोंका देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्व-संगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परमपुरुषने उपकारभूत कही है। —(पत्रांक : ८९५; ३२वाँ वर्ष)

*

तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध-चैतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह मुड़ता है। शुद्ध-चैतन्यके अनुभवके लिये चारित्रमोह नष्ट करना योग्य है।

चैतन्यके—ज्ञानीपुरुषके सन्मार्गकी नैष्ठिकतासे चारित्र-मोहका प्रलय होता है।

असंगतासे परमावगाढ़ अनुभव हो सकता है। —(पत्रांक : ९०१; ३३वाँ वर्ष)

*

साता-असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले उन महान पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानन्दाश्चर्यकारी वृत्ति उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होने पर और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी माना जाता था।

—(पत्रांक : ९१३; ३३वाँ वर्ष)

*

सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परम धर्म परम पुरुषोंने कहा है।

तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूपभ्रंशवृत्ति न हो यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरारूप भासने योग्य है।

—(पत्रांक : ९३९; ३३वाँ वर्ष)

*

ज्ञानी जगतको तृणवत् समझते हैं, यह उनके ज्ञानकी महिमा समझें। —(उपदेश नोंध : १६)

*

गृहस्थाश्रममें सत्पुरुष रहते हैं उनका चित्र देखकर विशेष वैराग्यकी प्रतीति होती है। योगदशाका चित्र देखकर सारे जगतको वैराग्यकी प्रतीति होती है, परन्तु गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी त्याग और वैराग्य योगदशा जैसे रहते हैं, यह कैसी अद्भुतदशा है! योगमें जो वैराग्य रहता है वैसा अखण्ड वैराग्य सत्पुरुष गृहस्थाश्रममें रखते हैं। उस

अद्भुत वैराग्यको देखकर मुमुक्षुको वैराग्य, भक्ति होनेका निमित्त बनता है। लौकिकदृष्टिमें वैराग्य, भक्ति नहीं है।

—(उपदेश छाया : ९)

*

ज्ञान तो वह है जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, संसारपरसे सचमुच प्रीति घट जाती है, सच्चेको सच्चा जानता है। जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान है।

—(उपदेश छाया : १२)

*

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, वह केवलज्ञानी जाने; परन्तु स्वयं आत्मा है वह क्यों न जाने? कहीं आत्मा गाँव नहीं चला गया; अर्थात् समकित हुआ है उसे आत्मा स्वयं जानता है। जिस तरह कोई पदार्थ खानेपर उसका फल होता है, उसी तरह समकित होनेपर, भ्रान्ति दूर होनेपर, उसका फल स्वयं जानता है। ज्ञानका फल ज्ञान देता ही है। पदार्थका फल पदार्थ लक्षणके अनुसार देता ही है। आत्मामेंसे, अन्तरमेंसे कर्म जानेको तैयार हुए हों तो उसकी खबर अपनेको क्यों न पड़े? अर्थात् खबर पड़ती ही है। समकितीकी दशा छिपी नहीं रहती।

—(उपदेश छाया : १४)

*

सम्यग्दृष्टि पुरुष, अनिवार्य उदयके कारण लोकव्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलतासे करते हैं। प्रवृत्ति करनी चाहिये, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा, वैसा होगा ऐसी दृढ़ मान्यताके साथ वे ऊपर-ऊपरसे प्रवृत्ति करते हैं।

—(व्याख्यानसार-२/३०/१५)

'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' मेंसे उद्धृत रत्न

मोक्षार्थी अपने क्षणिक—अल्पकालीन भावोंका मूल्य नहीं आँकते। —(पत्रांक : १२)

*

ज्ञानीको जहाँ स्वरूप-निधान प्रगट होता है, वहाँ पर्यायमें (—शरीरमें नहीं वरन् परिणाममें) यौवन (बल) आ जाता है, निर्भयता और निःशंकता आ जाती है। प्रतिक्षण अबंध स्वरूप प्रगटता जाता है। वर्तमानमें पुण्य-भाव हो और उनका फल प्राप्त होवे—ऐसी वांछा ज्ञानीको नहीं है।
—(पत्रांक : १७)

*

अभानदशामें चैतन्यगाँठ कर्मोंके संगमें कभी इधर लुढ़कती है व कभी उधर, पर भानदशामें ऐसा बोध होता है कि 'अरे! परिणाम परिणम गया, और 'मैं' यूं का यूं ही रहा गया'—ऐसा मैं त्रिकाल नित्य—ध्रुव अद्भुत रत्न हूँ! —(पत्रांक : १७)

*

स्वमें अर्थात् ज्ञान, आनन्द आदि गुणोंके भण्डार आत्मामें परिणामोंको पसारते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक आता है। परिणामोंके इस प्रकारके प्रसरणमें ही यथार्थ ज्ञान-सुखादिका अनुभव उत्पन्न होने लगता है, जिसकी प्रत्यक्षतासे पराश्रित आकुलित परिणाम प्रत्यक्ष विप-

रूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यग्दृष्टि साधक व मुनियोंको एक समय मात्रके लिये भी नहीं रुचते।

—उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होने पर अनादिसे चला आया दृष्टिका मोह टूटता है। दृष्टिने जिस स्व अखण्ड स्व आत्माको लक्ष किया, उसमें एक साथ परिपूर्ण परिणामका प्रसरण नहीं होता तब तक परिणामका कुछ अंश अखण्डके साथ सुखरूप परिणमता है व उस ही परिणामका कुछ अंश उदयके साथ पराश्रित दुःखरूप परिणमता है। साधक व मुनिके इस प्रकारका पराश्रित परिणमा हुआ राग-अंश उपदेशादिकका कारण होता है। यह राग-अंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःख-रूप है जो कि मुनियोंको विलकुल रुचता नहीं व इसमें उन्हें रस आता नहीं। पुरुषार्थकी निर्वलतासे अखण्ड आत्माकी पूरी पकड़ चारित्र-परिणाममें नहीं होनेसे ऐसा राग-अंश होता है, जिसका निषेध प्रति समय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समयके लिये भी चारित्रमोहस्वरूपी राग-अंशको वह अपना कर्तव्य नहीं समझते, जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है; अतः वारम्वार स्वमें स्थित होते हुए, राग-अंशको तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते हैं।

मुनियोंके रागांश निमित्तक उपदेशमें उक्त आशयका संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीवके वह निमित्तरूप पड़ता है, और वह स्वयं भी उपदेशादिककी तरफसे लक्ष हटाता हुआ, उपदेश आदिको मुनियोंका कर्तव्य नहीं समझता हुआ, उनकी अस्थिरताका दोष समझता हुआ, उन परसे वृत्ति हटाकर स्वज्ञानकी खानमें प्रवेश करने लगता

है। अरिहन्तोंके उपदेशमें निमित्त उनका राग नहीं है, वरन् कम्पनकी अस्थिरता है। —(पत्रांक : ३२)

*

दृष्टिदोष हटे बाद मुनियोंको उपदेशका राग उनकी अस्थिरताका दोष है, कर्तव्य नहीं; व इस दोषको स्थिरताका प्रयत्न करते-करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नहीं चाहते। —(पत्रांक : ३२)

*

त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्ध वृत्ति, व देवादिक प्रत्येकी आंशिक बाह्य वृत्ति—तीनों अंशोंका—एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है, जिसमें मुख्य-गौणका प्रश्न नहीं।

*

स्वके मापसे अन्यका माप किया जाता है। 'मैं त्रिकाली ही हू' इस अनुभवमें परिणाम गौण है चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक। ऐसे धर्मीको कभी परिणामकी मुख्यता नहीं होती। अतः उसे अन्य धर्मी जीवमें भी परिणामकी मुख्यता दिखाई नहीं देती। जैसी कि मात्र परिणाम देखनेवालेको प्रवृत्तिकी मुख्यता दिखती है।

*

धर्मी-अधर्मी भी त्रिकाली व वर्तमान दोनोंको एक साथ देखता है। त्रिकालीका अभान होनेसे अधर्मीको परिणाम मात्रमें एकत्व होता रहता है। धर्मीको इसका ज्ञान रहता है।

*

वृत्ति-अपेक्षा त्रिकालीकी मुख्यतावाले धर्मीको सहज ही इस मुख्य-आश्रित वृत्तिकी ही मुख्यता रहती है—वर्तती है, चाहे बाह्य अंशमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति हो।

—(पत्रांक : ३३)

※

[आत्मिक आनन्दके विषयमें आपने कहा—] जब एक बार आनन्दकी घूँट पी ली...तब तो बार-बार वही घूँट पीनेके लिए अपनी-ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणतिको रस ही नहीं आयेगा; बार-बार अपनी-ओर आनेका ही लक्ष्य रहेगा, दूसरे सब रस उड़ जायेंगे।

—तत्त्वचर्चा : २१

※

(स्वरूप-) दृष्टि होने पर भी चारित्रगुणकी योग्यता ही ऐसी होनेसे चारित्रगुण पूरा (शुद्ध) नहीं परिणम जाता। श्रद्धागुणका स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षणमें द्रव्यमें पूराका पूरा व्याप्त हो जाता है। चारित्रगुणका स्वभाव ऐसा है कि वह क्रम-क्रमसे ही पूरा होता है। —ऐसे दोनों गुणोंके स्वभाव ही अलग-अलग हैं। ३८.

※

जब दृष्टि अपने स्वरूपमें तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है; लेकिन राग लँगड़ा हो जाता है, उसको आधार नहीं रहता। ३९.

※

अपने द्रव्यमें दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपनेसे)

जान लेता है। ४३.

※

प्रश्नः—चतुर्थ गुणस्थानमें (निर्विकल्प) अनुभव कितने समयके अन्तरालमें होता होगा?

उत्तरः—ऐसे अनुभवके अन्तरालकी कोई मर्यादा नहीं है। वह तो यदि विशेष अशुभमें हों तो अन्तराल लम्बा भी हो जाए, और शुभमें हों तो जल्दी-जल्दी भी अनुभव होवे। किसीको महिनेमें दस वार भी हो। ५२.

※

(असाताके उदयमें) सम्यग्दृष्टिको दुःखका वेदन होता है; लेकिन अपने स्वभावकी अधिकताके वेदनमें उस वेदनकी गौणता हो जाती है। ज्ञानमें, शान्तिके वेदनके साथ-साथ दुःखका वेदन आता है; परन्तु वह वेदन मुख्य नहीं होता—अपने स्वभावकी ही ज्ञानीको अधिकता रहती है, अपने स्वभावकी अधिकता कभी छूटती नहीं। ५५.

※

अज्ञानी उत्पाद-व्ययके साथ-साथ चलता जाता है (—पर्याय दृष्टि होनेसे—परिणामका उत्पाद-व्यय होनेपर स्वयंका उत्पाद-व्यय अनुभवता है)। परन्तु ज्ञानीने नित्यमें (—द्रव्यमें) अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्ययके साथ नहीं चला जाता, किन्तु उत्पाद-व्ययको जान लेता है। ५७.

※

प्रश्नः—रामचन्द्रजीको सीताजीके लिए लड़नेका भाव आया; परन्तु धर्मराज (युधिष्ठिर)को द्रौपदीकी साड़ी खींची

जानेपर भी बचानेका भाव नहीं आया था, इसका क्या कारण?

उत्तरः—वह तो परिणामोंकी योग्यता ही ऐसी भिन्न-भिन्न होती है। अनेक प्रकारके कषायभावोंमेंसे जो होनेवाले हैं, वो होते हैं; उनको करें-छोड़ें क्या? परिणाम मात्रसे सम्यग्दृष्टिको भिन्नता रहती है। 'मैं करनेवाला ही नहीं हूँ' ऐसा रहना ही खास बात है। ७३.

*

श्रद्धामें त्रिकालीपना आ गया तो विकल्पसे भिन्नता हो गई—वही मुक्ति है। चारित्रमें मुक्ति हो जायेगी। ७९.

*

चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम है, और पंचम गुणस्थानवाला अशुभमें विशेष हो फिर भी (चौथे गुणस्थानवालेकी अपेक्षा उसकी) स्थिरता विशेष है। क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगीको शुभभावमें रस अधिक है और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जबकि पाँचवें गुणस्थानवाला अशुभभावमें अधिक होते हुए भी (उसे) अंतरमें ढ़लन अधिक रहती है। ९४.

*

प्रश्न :—चौथे गुणस्थानवालेको वस्तुका अनुभव है और स्थिरताका प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभवमें काल क्यों लगता है?

उत्तर :—चारित्रकी पर्यायमें इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थकी कमी है; पर्यायकी ऐसी योग्यता है, लेकिन

दृष्टिमें उसकी गौणता है। 'वर्तमानमें ही पूर्ण हूँ'—इसमें पर्यायकी कमती-बढ़ती गौण है। ९५.

*

चैतन्यदलमें—असंख्य प्रदेशमें प्रसर जानेसे पर्याय दिखती ही नहीं है; (अर्थात्) ऐसी पर्यायको छोड़कर, ऐसी पर्याय करूँ—ऐसा नहीं होता। (ज्ञानीको) पर्यायमें साम्यभाव आ गया। ९९.

*

[स्वयंके परिणाम बताते हुए कहा—] निर्विकल्प आनन्दकी तो बात क्या करें! विकल्पके समयमें भी सुख और शान्ति तो बढ़ती ही रहती है फिर भी, निर्विकल्प आनन्द तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जेका (—कोटिका) है; इस आनन्दमेंसे छूटनेसे तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि जैसे बर्फमें पड़ा हुआ बर्फसे छूटकर अग्निमें प्रवेश करे तो जैसा दुःख होता है, वैसा निर्विकल्पमेंसे निकलनेपर होता है। (—इसीसे) तो निर्विकल्पमें जानेकी लगन रहती है। १२३.

*

ज्ञानीको तो त्रिकालीमें ही अपनापन होनेसे (उसे) वांचन-श्रवण-पूजादिमें भी अन्दरसे वृद्धि होती रहती है। १२८.

*

अपनेको तो सुख पीनेकी अधिकता रहती है, जाननेकी नहीं। और खरेखर तो विकल्पसे जो जानते हैं सो तो सच्चा जानना ही नहीं है; अन्दरमें अभेदतासे जो सहज जानना होता है वही सच्चा ज्ञान है। परसत्तावलम्बी ज्ञान

तो हेय कहा है न! शिवभूतिमुनि विशेष जानते नहीं थे फिर भी अन्दरमें सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया। १४६.

*

(शास्त्रमें) मुनिके लिए ऐसा कहा है कि अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्य करना। —वह तो विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। 'अपनेमें एकाग्र हो' तो प्रथम तो वही कर्तव्य है 'विकल्प' कर्तव्य नहीं। १५५.

*

शुद्ध जीवास्तिकायकी दृष्टि बिना, शास्त्रमें जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है?—वह समझमें नहीं आता। और दृष्टि होनेपर ज्ञानमें सहज ही सब बातें समझमें आ जाती हैं। १६६.

*

ज्ञानीको भी क्षणिक विकल्प उठते हैं, लेकिन पूर्वकी (अज्ञानदशाकी) माफिक (विकल्पमें) अनन्त जोर नहीं है। विकल्प उठते हैं, किन्तु पछाड़ खाकर खत्म हो जाते हैं। १९४.

*

सहज सुखका अनुभव (रागके) साथ-साथ वर्तता ही है, इसीलिए ज्ञानी हर्षभावको भी प्रत्यक्ष दुःखरूप जानते हैं। परन्तु जिन्हें सहज सुख प्रकट नहीं हुआ वे किसके साथ मिलानकर हर्षभावको दुःखरूप मानेंगे। १९५.

*

अज्ञानीको अकेले परिणामका ही वेदन होता है। परिणामके साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है—उसका वेदन

नहीं होता। लेकिन अपरिणामीमें दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर—प्रसरकर—अपनापन होते ही उसी क्षणमें अपरिणामी और परिणाम दोनोंका एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणामका वेदन मिथ्यादृष्टिको ही होता है। ज्ञानीको तो एक साथ दोनोंका (—द्रव्य और पर्यायका) अनुभव रहता है। २०४.

*

तुम पन्द्रह सालका सम्बन्ध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना एक ही क्षणका सम्बन्ध है,... यह विकल्प छूटा...कि फिर खलास!

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि)को छियानवे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थकी ओर लक्ष्य जाता है, उस ही का भोक्ता कहलाता है; परन्तु अभिप्रायमें तो उस पदार्थका भोक्ता...उसी क्षण खत्म हो गया। २१३,

*

(तीर्थंकरके जन्मोत्सवमें) इन्द्र नृत्य करके बाहरमें लौकिक अपेक्षासे खुशी मना रहे हों तो भी, उनके अन्दरमें जो सहज सुख चलता है उसमें, वह हर्ष-भाव भी सहज ही दुःखरूप लगता है; और यह सहज सुख, उस (हर्ष-) भावका सहज निषेध करता है; बाहरमें तो इन्द्र हर्ष-भावसे खुशी मनाते हैं। २२०.

*

आचार्य भगवन्त तो निरन्तर अमृतरसका ही पान करते थे, अमृतरसमें ही मग्न रहते थे। जैसे अच्छा भोजन

करते समय अपने कुटुम्बिकजनोंकी याद आती है, वैसे आचार्यदेवको करुणा आती है कि भाई! तुम्हारे पास भी आनन्दका दरिया पड़ा है, तुम उसको पीओ...पीओ! २३१.

*

प्रश्न :— सीताजी साधर्मी थी और पत्नी भी थी तो भी रामचन्द्रजीने लौकिकजनोंकी मुख्यता करके वात्सल्य अनुरागको भी गौण कर दिया — ऐसा कैसे?

उत्तर :— देखो! इससे यही सिद्ध हुआ कि धर्मीको वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नहीं है। कभी कैसा राग आ जाये! और कभी क्या (दूसरा) राग आ जाये! २६१.

*

दृष्टि अपनेको प्रभु ही देखती है! कमजोरीसे विकल्प आया तो अपनी निंदा–गर्हा भी होती है, मैं पामर हूँ ऐसा भी विकल्प आता है; परन्तु यह तो क्षण-पूरता ही विकल्प है, आ गया...तो...आ गया। [किसी ज्ञानीको तो दृष्टि-बल विशेष होनेसे निंदा-गर्हादिका विकल्प कम भी आता है] २८४.

*

दृष्टिमें तो अपन प्रभु हैं! बाहरमें अन्यको प्रभुतामें आगे बढ़ा देखें तो सहज ही प्रमोदभाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षणपूरता ही आता है, ज्यादा लगाव नहीं होता। २८७.

*

देव–शास्त्र–गुरुकी तरफके लक्ष्य और वलणमें भी

भट्टी-सा दुःख लगना चाहिए। (ज्ञानीका) बाहरमें उत्साह दिखता है, लेकिन अंदरमें भट्टी-सा दुःख लगता है। २९७.

*

जब अन्तर्दृष्टि जमे...तब ही (वर्तमान पर्यायकी) योग्यताका ज्ञान यथार्थ होता है; तभी (जिस कालकी जैसी) 'योग्यता' कहनेका अधिकार है। ३०४.

*

बाहरके संगका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी पर्यायके साथ है, मेरे साथ नहीं। लेकिन जिसको पर्यायमें ही एकत्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्तके साथ लम्बाती है; किन्तु ज्ञानीको पर्यायमें एकत्वबुद्धि नहीं है, इसीसे उसकी निमित्तके साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। ३०७.

*

प्रश्न :— मुनिको वस्त्रादि नहीं होनेसे दुःख नहीं होता होगा?

उत्तर :— मुनिराजको दुःख कैसा! उनके तो अन्तरमें आनन्दका स्रोत बहता है; बिजलीके करंटकी माफिक आनन्द चलता है। उनके तो वस्त्रकी वृत्तिका उठना ही दुःख है; और जो शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है। ३१२.

*

प्रश्न :— ज्ञानीको विषयोंमें आसक्ति नहीं है, इसका मतलब क्या?

उत्तर :— अन्य मतवाले तो इसको दूसरी तरहसे कहते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। यथार्थमें तो ज्ञानीको अपने

त्रिकाली स्वभावमें ऐसी आसक्ति हो गई है कि अन्य किसी पदार्थमें आसक्ति होती ही नहीं—(वे) स्वभावमें इतने आसक्त हैं। ३१५.

*

दृष्टिकी बातको मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए। इधर (—अन्तरमें) दृष्टि होते जो ज्ञान हुआ...वह (ज्ञान) वस्तु जैसी है वैसा ही जान लेता है। इस दृष्टिके बिना तो किसी बातमें अधिक खिँचा जाता है या किसी बातको ढ़ीला कर देता है। परन्तु दृष्टि होने पर ज्ञान (मध्यस्थ हो जाता है, इसीलिए) जिसकी जितनी-जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है। ३३८.

*

जिसको अनुभूति हुई हो — वह जीव अनुभवके बलसे कौनसी बात सत्य है ? और जो बात अनुभवसे नहीं मिलती वो असत्य है, ऐसा फौरन जान लेता है। ३४१.

*

इधर (—अन्तर) दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। दृष्टि होने पर उत्पन्न हुआ ज्ञान—अपना (परमें) कितना अटकाव है ? अपनी स्वभावमें कितनी जमावट है ? कितना रस है ?— यह सब सहज जान लेता है। ३४२.

*

जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है; दोनोंका अपना-अपना कारण है, एक दूसरेके लिए नहीं करते हैं। वैसे ही सुनानेवालेको (ज्ञानीको) अपने कारणसे मचक आती है और करुणासे उपदेशका विकल्प

आता है; और सुननेवालेको अपने कारणसे सुननेका भाव होता है।

जैसे व्यापारीको अन्यत्र पैसेका बड़ा लाभ होनेवाला हो तो वह ग्राहकके लिए नहीं रुकता है। वैसे ही यहाँ भी सुनानेवालेका विकल्प टूट जाए तो वह सुननेवालेके लिए नहीं रुकता है। ३५०.

*

प्रश्न :— अनन्त ज्ञानियोंका एकमत होनेसे ज्ञानीको निःशंकता आ जाती है?

उत्तर :— अनन्त ज्ञानियोंका एकमत होनेसे नहीं परन्तु अपना सुख पीनेसे ज्ञानीको निःशंकता आ जाती है। ३५२.

*

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको 'सदा त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। 'मैं ध्रुव-सिद्ध हूँ' — जिसमें सिद्ध-दशाकी भी गौणता रहती है। सिद्ध-दशाका भी समय-समय उत्पाद-व्यय होता है 'मैं तो सदा ध्रुव हूँ'। ३७३.

*

निवृत्ति लेकर एकान्तमें आचार्योंके शास्त्र पढ़ें...तो उनमेंसे बहुत बातें निकलती हैं। उनमें (शास्त्रोंमें) तो बहुत भरा है!! आचार्योंके जो शब्द हैं न! वे आनन्दकी बूँद...बूँद हैं। एक-एक शब्दमें आनन्दकी बूँद...बूँद भरी है! आनन्दकी बूँद...बूँद टपकती है! तो रस आता है। ३८३.

*

त्रिकालीशक्तिमें अपनापन होते ही (अन्य) सभी आलम्बन उखड़ जाते हैं। ३९६.

※

मुँहमें पानीके साथ कचरा आते ही खदबदाहट होनेसे उसे मुँहसे निकाल दिया जाता है। ऐसे ही रागका वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। ज्ञानीको किसी भी क्षण रागमें अपनापन आता ही नहीं। ४४९.

※

ज्ञानीको राग बोझरूप लगता है। भारी चीजके ऊपर हलकी चीज हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीजपर तो भारी चीजका बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानीको राग बोझरूप लगता है, खटकता है, खूँचता (सालता) है। ४५०.

※

प्रश्न :— उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्पके कालमें भासती है क्या?

उत्तर :— विकल्पके कालमें भी प्रत्यक्ष भिन्नताका अनुभव है। और उपयोगको क्यों मुख्य करते हो? 'मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा–ज्ञान विकल्पके कालमें (धारणाकी माफिक) खाली पड़ा हुआ नहीं है, लेकिन परिणमनरूप है। ४५९.

※

दृष्टि तो हर समय अपनेको पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि हम तो पामर हैं, लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणतिका मुकाबला पूर्ण (स्वरूप)के साथ

करते हुए अपनी पामरता लगती है; इस अपेक्षासे (अपनेको पामर) कहते हैं। दृष्टि तो साधक–बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

*

प्रश्न :— ज्ञानीको आंशिक शुद्धताका ध्येय नहीं है?

उत्तर :— आंशिक शुद्धता क्या? पूर्ण शुद्धताका (—एक समयकी भेदरूप अवस्थाका) भी ध्यान ज्ञानीको नहीं है। "मैं तो त्रिकाल शुद्ध ही हूँ"। ४७७.

*

मुनिके पास कोई शास्त्र हो, और कोई उस शास्त्रको माँगे तो मुनि फौरन दे देते हैं। क्योंकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते हैं। इसीसे दूसरा माँगे तो सहज दे देते हैं। ४८२.

*

ज्ञानीको भगवानकी रागवाली भक्तिका प्रेम होता है; लेकिन इधरकी (—आत्माकी) भक्तिमें जैसा प्रेम है, वैसा वहाँ नहीं होता। ४८३.

*

रात्रिमें निद्रा सहज कम हो जाती है; क्योंकि आराम तो सच्चे स्वरूपमें ही है, तो उस तरफकी एकाग्रतामें निद्रा तो सहज ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर–उधरके विकल्पोंकी थकान बहुत होती है, उसको आरामके लिए निद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर–उधर करनेका कर्तृत्व ही छूट गया है; उसे थकान न होनेसे नींद भी कम आती है। जैसे मुनिराजोंको अन्तरकी जागृतिके कारण विकल्पकी थकान

नहीं है, तो निद्रा भी कम है।

मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घंटे नींद नहीं आती है, फिर थोड़ी नींद आ जाये तो जागते ही ऐसा लगता है कि क्या नींद आ गई थी ! पीछे नींद उड़ जाती है और यही (—स्वरूप-घोलन) चलता रहता है। ४८७. [अंगत]

*

(ज्ञानीको) भक्ति आदिके शुभभाव आवे तब बाहरमें तो उल्लसित दिखाई देवे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय निषेध करता है। ४९९.

*

प्रश्न :— तिर्यंचको तो अनुभवका सुख ठीक और रागका दुःख वह अठीक — ऐसा रहता है; उसमें 'त्रिकाली ही मैं हूँ' ऐसा कैसे भासता होगा ?

उत्तर :— त्रिकालीमें आये विना (—त्रिकाली ही मैं हूँ, ऐसे अनुभव विना) सुख होता ही नहीं...तो उसमें त्रिकाली स्वभावका आश्रय आ गया। पर्याय बदलती है तो भी 'मैं' नहीं बदलता — ऐसा भासता है। ५४६.

*

सम्यग्दृष्टिको एक विकल्प भी फाँसी-सा लगता है; विकसित स्वभावको फाँसी लगती है। ५७४.

*

सम्यग्दृष्टिकी रागके प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नहीं।

मैं तो सदा अन्तर्मुख हूँ; मेरा विकल्पके साथ भी सम्बन्ध नहीं है; तो दूसरोंकी तो क्या बात ? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.

❀ दाताओंकी नामावलि ❀

५००० श्री अनिलकुमार जैन तथा परिवार, भावनगर
३५०० श्रीमती ज्योतिबेन रमेशभाई कामदार तथा परिवार, बम्बई
३००० श्री हिम्मतलाल छोटालाल जोबालिया परिवार, बम्बई
३००० एक मुमुक्षु भाई, भावनगर
२५०० एक मुमुक्षु भाई, सायन (बम्बई)
२५०० श्री नेमेशभाई शांतिलाल शाह परिवार, सायन (बम्बई)
२५०० श्री कोकिलाबेन, दादर (बम्बई)
२५१ श्री वृजलाल मगनलाल शाह, जलगांव
१०१ श्री गुणवंतराय प्रेमचंद भायाणी, बम्बई
५१ श्री ज्ञानचन्द जैन, सोनगढ़
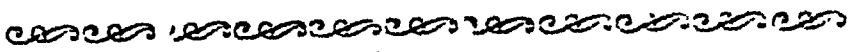
शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
१	६	आकार	आ कर
९	९	रके	परके
११	७	शुम	शुभ
३५	५	जि	जिन्हें
३९	२२	अखण्ड	अखण्ड
४२	६	धिरोध	विरोध
४६	७	धरणामें	धारणामें
५९	२१	हू	हूँ
७४	२१	अज्ञा	अज्ञानी
७७	९	गजवक काम	गजबका काम
८३	१	चैतन्यचन्द्र	चैतन्यचन्द्रको
		कोनिहारते	निहारते
८८	१७	भेदज्ञान	भेदज्ञानकी
		~~कीपरिणति~~	परिणति
१०४	२२		होता
१३१	१७		वर्ते

हमारे प्रकाशन

		नाम	પ્રત
१	श्री	પ્રવચનસાર	૧૫૦૦
२	,,	प्रवचनसार (प्रथमावृत्ति)	२१००
	,,	प्रवचनसार (द्वितीयावृत्ति)	२१००
૩	,,	પંચાસ્તિકાય	૧૦૦૦
४	,,	पंचास्तिकाय	२५००
५	,,	समयसार नाटक	३०००
६	,,	अष्टपाहुड़	२०००
૭	,,	અનુભવપ્રકાશ	૨૧૦૦
	,,	अनुभव प्रकाश	२०००
૮	,,	પરમાત્મપ્રકાશ (પ્રથમાવૃત્તિ)	૧૧૦૦
	,,	પરમાત્મપ્રકાશ (બીજી આવૃત્તિ)	૩૦૦૦
९	,,	समयसार कलश टीका	२०००
૧૦	,,	આત્માવલોકન	૨૦૦૦
૧૧	,,	સમાધિતંત્ર	૨૦૦૦
१२	,,	बृहद् द्रव्यसंग्रह	३०००
૧૩	,,	જ્ઞાનામૃત (પ્રથમાવૃત્તિ)	૨૦૦૦
	,,	જ્ઞાનામૃત (બીજી આવૃત્તિ)	૫૦૦૦
	,,	ज्ञानामृत	३०००
૧૪	,,	યોગસાર	૨૦૦૦
૧૫	,,	અધ્યાત્મસંદેશ	૨૦૦૦
૧૬	,,	પદ્મનન્દિ-પંચવિંશતિ	૩૦૦૦
૧૭	,,	સમયસાર	૩૧૦૦
	,,	समयसार	२५००
૧૮	,,	અધ્યાત્મિક પત્ર (સ્વ. શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની)	૩૦૦૦
૧૯	,,	દ્રવ્યદૃષ્ટિ-પ્રકાશ	૧૦,૦૦૦
૨૦	,,	પુરુષાર્થસિદ્ધિઉપાય	૨૧૦૦
૨૧	,,	ક્રમબદ્ધપર્યાય	૮૦૦૦

	નામ	પ્રત
२२	શ્રી અધ્યાત્મપરાગ (પ્રથમાવૃત્તિ)	२०००
	,, અધ્યાત્મપરાગ (બીજી આવૃત્તિ)	१०००
२३	,, धन्य अवतार	८०००
२४	,, પરમાગમસાર	५०००
	,, परमागमसार	२०००
२५	,, વચનામૃત પ્રવચન ભાગ–૧	३०००
	,, ,, ,, ,, –२	२०००
	,, ,, ,, ,, –३	२०००
	,, ,, ,, ,, –४	२०००
२६	,, નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ	३०००
	,, निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी पर	५०००
२७	,, પ્રયોજન-સિદ્ધિ (પ્રથમાવૃત્તિ)	१०००
	,, પ્રયોજન-સિદ્ધિ (બીજી આવૃત્તિ)	२५००
	,, प्रयोजन-सिद्धि	५०००
२८	,, પથ-પ્રકાશ	२०००
२९	,, બીજું કાંઈ શોધમાં	४०००
	,, दूसरा कुछ न खोज	५०००
३०	,, વિધિ-વિજ્ઞાન	२०००
	,, विधि-विज्ञान	२०००
३१	,, ભગવાન આત્મા	२०००
३२	,, જિણસાસણં સવ્વં	२०००
	,, जिणसासणं सव्वं	५०००
		१,४५,६००

* द्रव्यदृष्टि-प्रकाश (तीनों विभागों व श्री सोगानीजीके विस्तृत जीवन परिचय सहित)..............................प्रेसमें